श्रमण
ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII No. I January-March 2006

Pārśwanātha Vidyāpīṭha, Varanāsi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII | No. I | January-March 2006

Editor-in-Chief

Prof. Sagarmal Jain

Editor

Dr. Shriprakash Pandey

Publisher

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण: पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

Śramaṇa: A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII **No. I** **January-March 2006**

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00
For Individuals: Rs. 200.00
Per Issue Price: Rs. 25.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 1500.00
For Individuals: Rs. 500.00

Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of ***Parshwanath Vidyapeeth***

Cover Page : Sheer elegance and purity of a Jaina nun as captured in a painting of a European artist.

Courtesy : M.K. Singhi (Jain Journal April 1979)

Published by : Parshwanath Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890

Email : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
pvri@sify.com

Type Setting at : Add Vision
Karaundi, Varanasi-221005

Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

जनवरी-मार्च २००६

सम्पादकीय
विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१.	प्राकृत कथा-साहित्य में सांस्कृतिक चेतना	-डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव	१-१०
२.	कर्पूरमञ्जरी में भारतीय समाज	-डॉ० हरिशंकर पाण्डेय	११-१८
३.	तत्त्वार्थसूत्र का पूरक ग्रन्थ : जैन सिद्धान्त-दीपिका	-डॉ०धर्मचन्द जैन	१९-३२
४.	भारतीय व्याकरण शास्त्र की परम्परा	-डॉ० अतुल कुमार प्रसाद सिंह	३३-४४
५.	पद्म पुराण में राम का कथानक और उसका सांस्कृतिक पक्ष	-डॉ० श्वेताजैन	४५-५३
६.	धम्म चक्र प्रवर्तन सूत्र : मानवीय दुःख विमुक्ति का निदान पत्र	-प्रो० अँगने लाल	५४-५९
७.	प्रतीत्यसमुत्पाद और निमित्तोपादानवाद	-कु० अल्पना जैन	६०-६५
८.	महावीर कालीन मत-मतान्तर : पुनर्निरीक्षण	-डॉ० विभा उपाध्याय	६६-८४
९.	जैन धर्म के जीवन मूल्यों की प्रासङ्गिकता	-दुलीचन्द जैन	८५-९६
१०.	वैदिक ऋषियों का जैन परम्परा में आत्मसातीकरण	-डॉ० अरुण प्रताप सिंह	९७-१०५
११.	'दया-मृत्यु' एवं 'संथारा-प्रथा' का वैज्ञानिक आधार	-डा० रामकुमार गुप्त	१०६-१११
१२.	जैन श्रमण संघ में विधि शास्त्र का विकास	-डा० शारदा सिंह	११२-१२०
१३.	देवानन्दा-अभिनन्दन	-कुमार प्रियदर्शी	१२१-१२३

ENGLISH SECTION

14.	The Conception of Death in Buddhism and Jainism	-Dr. Pramod Kumar Singh	126-138
15.	Jaina Śāsanadevatās : Source and Iconography	- Dr. Nandini Verma Dr. Ratnesh Verma	139-141
१६.	विद्यापीठ के प्राङ्गण में		१४२-१४७
१७.	जैन जगत्		१४८-१५६
१८.	साहित्य सत्कार		१५७-१६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

श्रमण *जनवरी-मार्च २००६ का अंक सम्माननीय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। श्रमण के पूर्व अंक (जुलाई-दिसम्बर २००५) में हमनें जैन धर्म के मूर्धन्य मनीषी प्रो० सागरमल जैन द्वारा लिखित कुछ महत्त्वपूर्ण लेखों को स्थान दिया था। प्रस्तुत अंक में हमने जैन साहित्य, दर्शन, आचार, इतिहास एवं कला से सम्बद्ध आलेखों को स्थान दिया है। इस अंक के हिन्दी खण्ड में जैन साहित्य, दर्शन, आचार, इतिहास एवं संस्कृति पर आधारित कतिपय महत्त्वपूर्ण आलेख प्रकाशित किये गये हैं। अंग्रेजी खण्ड में जैन एवं बौद्ध दर्शन (तुलनात्मक) एवं कला-इतिहास से सम्बद्ध आलेख प्रस्तुत हैं। सभी आलेख विषयवस्तु, प्रस्तुति एवं भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हमारा प्रयास यही रहता है कि श्रमण का प्रत्येक अंक पिछले अंकों की तुलना में हर दृष्टि से बेहतर हो और उसमें प्रकाशित सभी आलेख शुद्ध रूप में मुद्रित हों।*

इस अंक के साथ हम अपने सम्माननीय पाठकों के लिये जैन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखने वाली प्राकृत भाषा में निबद्ध श्रीमद्धनेश्वर सूरि विरचित ***सुरसुंदरीचरिअं*** *(संस्कृत च्छाया सहित गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद) का चतुर्थ परिच्छेद कतिपय कारणों से प्रकाशित नही कर पा रहे हैं, आशा है अगले अंक में हम अपने पाठकों को इस अद्वितीय कथारस में निमज्जित कर सकेंगे।*

सुधी पाठकों से निवेदन है कि आपकी आलोचनायें ही हमें पूर्णता प्रदान करती हैं। एतदर्थ आप अपने अमूल्य विचारों/आलोचनाओं से हमें वंचित न करें, उनसे हमें सदा अवगत कराते रहें ताकि आगामी अंकों में हम अपनी कमियां सुधार सकें।

सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'श्रमण' पाठकों की नज़र में

समादरणीय सम्पादक जी,

आपकी सम्पादन मनीषा से मण्डित **'श्रमण'** का जुलाई-दिसम्बर, २००५ अंक प्राप्त हुआ। इसमें सम्मिलित सभी आलेख विचार-प्रौढ़ि से परिपूर्ण एवं प्रज्ञापूत लेखनी से प्रसूत हैं, जिनमें न केवल जैन दर्शन अपितु जैनेतर दर्शनों विशेषत: बौद्ध और चार्वाक दर्शन की बहुआयामी दृष्टियों का भी समेकित आकलन हुआ है। इसमें भारतीय निरीश्वरवादी दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन का अपूर्व अवसर 'श्रमण' के प्रबुद्ध पाठकों को उपलब्ध होगा। यथासमावेशित सभी आलेख जैन शास्त्र के स्तम्भपुरुष प्रो० सागरमल जैन की उस समृद्ध आन्वीक्षिकी को संकेतित करते हैं, जो एक प्रकाण्ड दार्शनिक एवं शास्त्रसिक्त गवेषक की बौद्धिक पारगामिता की संवाहिका हैं। प्रो०जैन एक सुलझे हुए चिन्तन के धीरधी अक्षर पुरुषों में अग्रणी हैं।

साधुवाद

श्रीरंजनसूरिदेव, पटना

मान्यवर सम्पादक जी,

'श्रमण' जुलाई-दिसम्बर, २००५ का अंक प्राप्त हुआ। प्रस्तुत अंक में सम्मानीय बहुश्रुत विद्वान प्रो० सागरमल जैन के चयनित विशिष्ट लेखों के आधार पर विशेषांक प्रकाशित कर आपने महनीय साहित्यिक कार्य सम्पादित किया है। कृपया हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

प्रो० जैन के उक्त लेख निश्चय ही जैन धर्मदर्शन के विविध आयामों को रेखांकित करते हैं जो भ्रांतियों का निराकरण कर पुष्ट प्रमाणों द्वारा वास्तविक स्थापनाओं को स्थापित करते हैं, जिनमें एक वैचारिक नवीन दिशा प्राप्त होती है। प्रो० जैन इसी प्रकार मार्गदर्शन करते रहें, यही कामना है। कवर पृष्ठ पर भी हिन्दी में नाम होना चाहिए। इस नवीन साज सज्जा के लिए साधुवाद!

वेद प्रकाश गर्ग, मुजफ्फर नगर-२५१००२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी खण्ड

- प्राकृत कथा-साहित्य में सांस्कृतिक चेतना
- कर्पूरमञ्जरी में भारतीय समाज
- तत्त्वार्थसूत्र का पूरक ग्रन्थ : जैन सिद्धान्त-दीपिका
- भारतीय व्याकरण शास्त्र की परम्परा
- पद्म पुराण में राम का कथानक और उसका सांस्कृतिक पक्ष
- धम्म चक्क प्रवर्तन सूत्र : मानवीय दुःख विमुक्ति का निदान पत्र
- प्रतीत्यसमुत्पाद और निमित्तोपादानवाद
- महावीर कालीन मत-मतान्तर : पुनर्निरीक्षण
- जैन धर्म के जीवन मूल्यों की प्रासङ्गिकता
- वैदिक ऋषियों का जैन परम्परा में आत्मसातीकरण
- 'दया-मृत्यु' एवं 'संथारा-प्रथा' का वैज्ञानिक आधार
- जैन श्रमण संघ में विधि शास्त्र का विकास
- देवानन्दा-अभिनन्दन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

प्राकृत कथा-साहित्य में सांस्कृतिक चेतना

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव*

प्राचीन संस्कृति-कथाओं की आधारशिला बहुलांशत: दिव्यभूमि पर प्रतिष्ठापित की गई है। किन्तु, ठीक इसकी प्रतिभावना-स्वरूप प्राकृत-कथाओं की रचना-प्रक्रिया में दिव्यादिव्य शक्तियों की समन्विति को प्रमुखता दी गई है। कारण, संस्कृत के कथाकार वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित ईश्वरीय शक्ति की सर्वोपरिता की अवधारणा से आक्रान्त थे; परन्तु इसके विपरीत प्राकृत-कथाकारों ने मानव-शक्ति की सर्वोपरिता को लक्ष्य किया था। इसीलिए, ईश्वरत्व के विनियोग अथवा ईश्वर के कर्तृत्व की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व में विपुल विश्वास के प्रति प्राकृत-कथाकारों का आग्रह अधिक सजग रहा। संस्कृत-कथाकार जहाँ केवल अतिलौकिक भावभूमि के पक्षधर बने, वहीं प्राकृत-कथाकारों ने लौकिक भावधारा को अतिलौकिक पृष्ठभूमि से जोड़कर अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का संकेत किया।

प्राकृत और संस्कृत के कथाकारों की सैद्धान्तिक मान्यताओं के उपर्युक्त वैचारिक स्वातन्त्र्य के मूल में न केवल साम्प्रदायिक, अपितु अपने-अपने युग का, अर्थात् समसामयिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश का प्रभाव भी सक्रिय रहा है, फलत: उन्होंने अपनी-अपनी सांस्कृतिक चेतना और चिन्तन या मानसिक अवधारणा के अनुकूल भाव-जगत् में संचरण करते हुए यथास्वीकृत पद्धति से कथा-साहित्य को नूतन अभिनिवेश दिया, नई-नई दिशाएँ दीं और उसके नये-नये आयाम निर्धारित किये। किन्तु सामान्य जनजीवन से सम्बद्ध प्राकृत-कथाकारों ने ततोऽधिक विकासवादी दृष्टि का परिचय दिया, अर्थात् उन्होंने मानव-नियति को दैवी-नियति से सम्बद्ध न मानकर, लोकभावना को कर्मवाद पर आधृत सामाजिक गतिशीलता की ओर प्रेरित किया; अदिव्य को दिव्य से मिलाकर उसे दिव्यादिव्यत्व प्रदान किया। चिराचरित सार्वभौमतावादी युगधर्म को विकसित कर उसमें लोकजीवन की लोकात्तरवादी चेतना की व्यापक विनियुक्ति प्राकृत-कथाओं की मौलिक विशेषता है, जो अपने साथ, सांस्कृतिक और साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से, सारस्वत क्षेत्र के लिए अपूर्व उपलब्धि की गरिमा का संवहन करती है।

* ३७, स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, काली मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-८०००२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा के संस्कृत-कथा-साहित्य की विविधता और विपुलता ने जिस प्रकार अपने युग का निर्माण किया है, उसी प्रकार श्रमण-परम्परा में प्राकृत-कथावाङ्मय की विशालता से एक युग की स्थापना हुई है। श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा- दोनों समान्तर गति से प्रवाहित होती आ रही हैं। दोनों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है। यह बात दूसरी है कि कोई परम्परा काल-धर्म के कारण क्षीणप्रभ और तेजोदीप्त होती रही। कोई भी परम्परा अपने सारस्वत और सांस्कृतिक वैभव से ही दीर्घायु होती है। ब्राह्मण-परम्परा अपने साहित्यिक उत्कर्ष, सांस्कृतिक समृद्धि, दार्शनिक दीप्ति और भाषिक ऋद्धि से शाश्वत बनी हुई है, उसी प्रकार श्रमण-परम्परा की जैन और बौद्ध- ये दोनों शाखाएँ भी अपनी महामहिम साहित्यिक-सांस्कृतिक-दार्शनिक-भाषिक विभूति से ही युग-युग का जीवनकल्प हो गई हैं।

कोई भी परम्परा या सम्प्रदाय यदि सामाजिक गति को केवल तथाकथित धार्मिक नियति से संयोजित करने की चेष्टा करता है, तो वह पल्लवित होने की अपेक्षा संकीर्ण और स्थायी होने की अपेक्षा अस्थायी हो जाता है। श्रमण-परम्परा की स्थायिता का मूलकारण धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में उसकी क्रान्तिकारी वैचारिक उदारता है। श्रमण-परम्परा की प्राकृत-कथाओं में उदार-दृष्टिवादी संस्कृति, धर्म और दर्शन की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित हुई है, अतएव इसी परिप्रेक्ष्य में प्राकृत-कथाओं का मूल्यांकन न्यायोचित होगा। आगम-परवर्त्ती प्राकृत-कथासाहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यही नहीं है कि प्राकृत कथाकारों ने लोक-प्रचलित कथाओं को धार्मिक परिवेश प्रदान किया या श्रेष्ठ कथाओं की सर्जना केवल धर्म-प्रचार के निमित्त की है। प्राकृत-कथाओं का प्रधान उद्देश्य केवल सिद्धान्त-विशेष की स्थापना करना भी नहीं है। वरंच, सिद्धान्त-विशेष की स्थापना और धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश के प्रस्तवन के साथ ही अपने समय के सम्पूर्ण राष्ट्रधर्म या युगधर्म का प्रतिबिम्बन भी प्राकृत-कथा का प्रमुख प्रतिपाद्य है, जिसमें भावों की रसपेशलता, सौन्दर्य-चेतना, सांस्कृतिक आग्रह और निर्दुष्ट मनोरंजन के तथ्य भी स्वभावत: समाहृत हो गये हैं। कहना यह चाहिए कि प्राकृत-कथाकारों ने अपनी कथाओं में धर्म-साधना या दार्शनिक-सिद्धान्तों की विवेचना को साम्प्रदायिक आवेश से आवृत्त करने के आग्रही होते हुए भी संरचना-शिल्प, भाव-सौन्दर्य, पदशय्या, भणिति-भंगी, बिम्बविधान, प्रतीक-रमणीयता, सांस्कृतिक विनियोग आदि की दृष्टि से अपने कथाकार के व्यक्तित्व को खण्डित नहीं होने दिया। यद्यपि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि किसी कथाकार या रचनाकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए जिस अन्तर्निगूढ निर्वैयक्तिकता या अनाग्रहशीलता या धर्मनिरपेक्षता या सांस्कृतिक अनुराग की अपेक्षा होती है, उससे प्राकृत-कथाकार अपने को प्रतिबद्ध नहीं रख सके। वे अनेकान्त, अपरिग्रह एवं अहिंसा का अखण्ड वैचारिक समर्थन करते रहे और अपने धर्म की श्रेष्ठता का डिण्डिमघोष भी।

ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि वैदिक धर्म के यज्ञीय आडम्बरों और अनाचारों से विमुक्ति के लिए भगवान महावीर ने लोकजीवन को अहिंसा और अपरिग्रह से सम्पुटित जिस अनेकान्तवादी अभिनव धर्म का सन्देश दिया था, वह राजधर्म के रूप में स्वीकृत था, इसलिए उसके प्रचार-प्रसार का कार्य राज्याश्रित बुद्धिवादियों या दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सम्यक्त्व द्वारा मोक्ष के आकांक्षी श्रुतज्ञ तथा श्रमण कथाकारों का नैतिक एवं धार्मिक इतिकर्त्तव्य था। इसके अतिरिक्त, कथा-कहानी प्रचार-प्रसार का अधिक प्रभावकारी माध्यम सिद्ध होती है, इसलिए कथा के व्याज से धर्म और नीति की बातें बड़ी सरलता से जनसामान्य को हृदयंगम कराई जा सकती हैं। यही कारण है कि जैनागमोक्त धर्म के आचारिक और वैचारिक पक्ष की विवेचना और उसके व्यापक प्रचार के निमित्त प्राकृत-कथाएँ अनुकूल माध्यम मानी गई हों। अतएव, तत्कालीन लोकतन्त्रीय राजधर्म के प्रति किसी भी लोकचिन्तक कलाकार की पूज्य भावना सहज सम्भाव्य है, जो उसके राष्ट्रीय दायित्व के पालन के प्रति सजगता का संकेतक भी है। स्पष्ट है कि प्राकृत-कथाकारों की रचना-प्रतिभा धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में सममति थी। धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना, दार्शनिक प्रमा तथा साहित्यिक विदग्धता के शास्त्रीय समन्वय की प्रतिमूर्ति प्राकृत के कथाकारों की कथाभूमि एक साथ धर्मोद्घोष से मुखर, दार्शनिक उन्मेष से प्रखर, साहित्यिक सुषमा से मधुर तथा सांस्कृतिक चेतना से जीवन्त है। इसीलिए, प्राकृत-कथाओं के मूल्य-निर्धारण के निमित्त अभिनव दृष्टि और स्वतन्त्र मानसिकता की अपेक्षा है।

प्राकृत-कथा न केवल धर्मकथा है, न ही कामकथा और न अर्थकथा। इसके अतिरिक्त, प्राकृत-कथा को केवल मोक्षकथा भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: प्राकृत-कथा मिश्रकथा है, जिसमें पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की सिद्धि का उपाय निर्देशित हुआ है। अनुभूतियों की सांगोपांग अभिव्यक्ति मिश्रकथा में ही सम्भव है। जीवन की समस्त सम्भावनाओं के विन्यास की दृष्टि से प्राकृत-कथा की द्वितीयता नहीं है।

सामान्यतया, प्राकृत-कथाओं की संरचना-शैली का पालि-कथाओं से बहुश: साम्य परिलक्षित होता है। फिर भी, दोनों में उल्लेखनीय अन्तर यह है कि पालि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथाओं में पात्रों के पूर्वभव-कथा के मुख्य भाग के रूप में उपन्यस्त हुए हैं; परन्तु प्राकृत-कथाओं में पात्रों के पूर्वभव उपसंहार के रूप में विन्यस्त हुए हैं। पालि-कथाओं या जातक-कथाओं में बोधिसत्त्व मुख्य केन्द्रबिन्दु हैं, और उनके कार्यकलाप की परिणति प्राय: उपदेश-कथा के रूप में होती है। इस क्रम में किसी एक गाथा को सूत्ररूप में उपस्थापित करके गद्यांश में उसे पल्लवित कर दिया गया है, जिससे कथा की पुष्टि में समरसता या एकरसता का अनुभव होता है। किन्तु, प्राकृत-कथाओं में जातक-कथाओं जैसी एकरसता नहीं है, अपितु घटनाक्रम की विविधता और उसके प्रवाह का समन्वयात्मक आयोजन हुआ है। गहराई और विस्तार प्राकृत-कथाओं की शैली की अपनी विशिष्टता है। प्राकृत-कथा की महत्ता इस बात में निहित है कि इसके रचयिताओं ने हृद्य और लोकप्रिय किस्सा-कहानी एवं साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कलापूर्ण गल्प के बीच मिथ्या प्रतीति के व्यवधान को निरस्त कर दिया है। प्राकृत-कथाकारों ने उच्च और निम्न वर्ग के वैषम्य को भी अपनी कृतियों से दूर कर दिया है। फलत: इनकी रचनाओं में दोनों वर्गों की विशिष्टताओं का सफल समन्वय हुआ है। दूसरी ओर, जो लोग साहित्यिक अभिनिवेश, सांस्कृतिक चेतना और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें भी प्राकृत-कथाओं से कोई निराशा नहीं हो सकती। यह एक बहुत बड़ी बात है, जो बहुत कम कथा-साहित्य के बारे में कही जा सकती है।

व्यापक और गम्भीर सूक्ष्मेक्षिका से सम्पन्न भारतीयेतर विद्वानों ने भी अपने संरचना-शिल्प में सम्पूर्ण भारतीय परम्परा को समाहृत करने वाली प्राकृत-कथा-वाङ्मय की विशालता पर विपुल आश्चर्य व्यक्त किया है। भारतीय साहित्य के पारगामी अधीती तथा 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' के प्रथितयशा लेखक विण्टरनित्स केवल इसी बात से चकित नहीं हैं कि प्राकृत-कथा-साहित्य में जनसाधारण के वास्तविक जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं, वह तो इसलिए प्रशंसामुखर हैं कि प्राकृत-कथाओं की भाषा में एक ओर यदि जनभाषा की शरीरात्मा प्रतिनिहित है, तो दूसरी ओर वर्ण्य विषय में विभिन्न वर्गों के वास्तविक सांस्कृतिक जीवन का हृदयावर्जक चित्र समग्रता के साथ, मांसल रेखाओं में अंकित है। इसके अतिरिक्त, प्राकृत-कथाकारों की विश्वजनीन अनुभूति का प्रमाण यह भी है कि उनके द्वारा प्रस्तुत अभिव्यक्ति की विलक्षणता, कल्पना की प्रवणता, भावनाओं और आवेगों का विश्लेषण तथा मानव-नियति का भ्राजमान चित्रण-ये तमाम तत्त्व विश्व के कथा-साहित्य की विशेषताओं का मूल्य-मान रखते हैं। सबसे अधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि प्राकृत-कथा-साहित्य में सुरक्षित स्थापत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और शिल्प विभिन्न परवर्ती भारतीय कथा-साहित्य के आधारादर्श बने। ज्ञातव्य है कि प्राकृत-कथा के शिल्प-विधान में न केवल बाह्य वैलक्षण्य है, अपितु उसमें प्रतिष्ठित आन्तरिक शिल्प की सौन्दर्य-चेतना और सांस्कृतिक उद्‌भावना में पाठकों से आत्मीयत्व स्थापित करने की अपूर्व क्षमता भी है।

प्राकृत-कथाओं की असाधारणता ने 'ऑन द लिटरेचर ऑव द श्वेताम्बराज़ ऑव गुजरात' के मनीषी लेखक प्रो० हर्टेल का ध्यान भी आवर्जित किया है। वह प्राकृत-कथाकारों के कथाकौशल की कलात्मक विशिष्टता और औपन्यासिक स्थापत्य पर विस्मय-विमुग्ध हैं। लोकजीवन की विविधता की पूर्ण सत्यता के साथ अभिव्यक्ति में प्राकृत-कथाकारों की सातिशय विचक्षणता ने उन्हें बरबस आकृष्ट किया है। इसलिए, वह प्राकृत-कथाओं को जनसाधारण की नैतिक शिक्षा का मूलस्रोत ही नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ललित इतिहास भी मानते हैं।

यह तथ्य है कि संस्कृति और सभ्यता का यथार्थ और उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा-साहित्य की उपयोगिता असन्दिग्ध है। उच्च, मध्य और निम्न वर्गों के चारित्रिक विकास और उसके सहज विस्तार को जितनी प्रभावोत्पादक सूक्ष्मता से प्राकृत-कथाकारों ने रूपायित किया है, उतनी तलस्पर्शिता का प्रदर्शन अन्य भाषाओं के कथाकार कदाचित् ही कर पाये हैं। मान्त्रिक वाग्मिता के साथ अपनी स्थापना या प्रतिज्ञा ('थीसिस') को, मौलिकता और नवीनता की प्रभावान्विति से आवेष्टित कर, उपस्थापित करना प्राकृत-कथाकारों की रचना-प्रक्रिया की अन्यत्र दुर्लभ सारस्वत और सांस्कृतिक उपलब्धि है।

जीवन की जटिलता और भवयात्रा की विभीषिका में मानव के मनोबल को सतत दृढ़तर और उसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना को निरन्तर उन्निद्र एवं पदक्रम को अविरत गतिशील बनाये रखने के लिए कालद्रष्टा तपोधन ऋषियों तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र-सम्पन्न आचार्यों ने मित्रसम्मित या कान्तासम्मित उपदेशों को कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया, ताकि भवयात्रियों का जीवन-मार्ग दुःख की दारुण अनुभूति से बोझिल न होकर सुगम हो जाय और उन्हें अपनी आत्मा में निहित लोकोत्तर शक्ति को ऊर्ध्वमुख करने की प्रेरणा भी मिलती रहे। इस प्रकार, जीवन और जगत्, दिक् और काल की सार्थकता ही कथा का मूल उद्देश्य है। चाहे पूरी भवयात्रा हो, सामान्य दैनन्दिन जीवन की खण्डयात्रा, दोनों की सुखसाध्यता और ततोऽधिक मंगलमयता या सफलता के लिए कथा अनिवार्य है। 'श्रीमद्भागवत' (१०.३१.१) के अनुसार, तप्त जीवन के लिए कथा ऐसा अमृत है, जो न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल श्रवण-सुखद है, अपितु कल्मषापह भी है। सच पूछिए, तो मानव का जीवन ही एक कथा है। कथा अपने जीवन की हो, या किसी दूसरे के जीवन की, मानव-मन की समान भावानुभूति की दृष्टि से प्रत्येक कथा तदात्मता या समभावदशा से आविष्ट कर लेती है और फिर, उससे जो जीवन की सही दिशा का निर्देश मिलता है, वह सहज ग्राह्य भी होता है। इसीलिए, भगवान् के द्वारा कही गई वेद या पुराण की संस्कृति-कथाएँ या जैनागम की प्राकृत-कथाएँ या फिर बौद्ध त्रिपिटक की पालि-कथाएँ अतिशय लोकप्रिय हैं। इस प्रकार, प्रत्येक परम्परा का आगम-साहित्य ही कथा की आदिभूमि है।

भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट जैनागमों का संकलन अर्द्धमागधी प्राकृत में हुआ है। अतएव, प्राकृत-कथाओं की बीजभूमि या उद्गम-भूमि आगम-ग्रन्थ ही हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण आदि आगमिक टीका-ग्रन्थों में भी लघु और बृहत् सहस्त्रों कथाएँ हैं। आगमिक साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन, नीति और कर्त्तव्य का निर्धारण आदि जीवनाभ्युदयमूलक आयामों का प्रतिपादन कथाओं के माध्यम से किया गया है। इतना ही नहीं, सैद्धान्तिक तथ्यों का निरूपण, तात्त्विक निर्णय, दार्शनिक गूढ़ समस्याओं के समाधान, सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन तथा अनेक ग्रन्थिल-गम्भीर विषयों के स्पष्टीकरण के लिए कथाओं को माध्यम बनाया गया है। तीर्थंकरों, गणधरों और अन्यान्य आचार्यों ने कथा की शक्ति को पहचाना था, इसलिए उन्होंने अपने विचारों के लिए कथा को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

प्राकृत-निबद्ध अंग और उपांग-साहित्य में प्राप्त, आर्हत् सिद्धान्तों को अभिव्यक्ति देनेवाले आख्यान प्रेरक और प्रांजल तो हैं ही, अन्तर्निगूढ संवेदनशील भावनाओं और सांस्कृतिक अन्तर्भावों के समुद्भावक और सम्पोषक भी हैं। आगमकालीन इन आख्यानों का उद्देश्य है- मिथ्यात्व से उपहत अधोगामिनी मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक उदात्तता की ऊर्ध्वभूमि पर प्रतिष्ठापित करना। आगमकाल प्राकृत कथा-साहित्य का आदिकाल या संक्रमण-काल था। इस अवधि में नीति और सिद्धान्तपरक प्राकृत-कथाएँ क्रमशः साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कथाओं के रूप में संक्रमित हो रही थीं, अर्थात् उनमें सपाटबयानी के अतिरिक्त साहित्य-बोध और सांस्कृतिक परिज्ञान की अन्तरंग सजगता और रसात्मक अभिव्यक्ति की आकुलता का संक्रमण हो रहा था। अर्हतों की उपदेश-वाणी की तीक्ष्णता और रूक्षता को या उसकी कड़वाहट को प्रपानक रस के रूप में परिणत कर अभिव्यक्त करने की चिन्ता प्रथमानुयोग के युग में रूपायित हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और संस्कृतिसिक्त साहित्य की सरसता से सिक्त होने का अवसर मिल जाने से गुरुसम्मित वाणी जैसी प्राकृत-कथाएँ कान्तासम्मित वाणी में परिवर्त्तित होकर ततोऽधिक व्यापक और प्रभावक बन गईं और इस प्रकार, संकलन की प्रवृत्ति सर्जना-वृत्ति में परिणत हुई। विषय-निरूपण की सशक्तता के लिए सपाट कथाओं में अनेक घटनाओं और वृत्तान्तों का संयोजन किया गया, उनमें मानव की जिजीविषा और संघर्ष के आघात-प्रत्याघात एवं प्रगति की अदम्य आन्तरिक आकांक्षाओं के उत्थान-पतन का समावेश किया गया; इसके अतिरिक्त उनमें सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में विकृतियाँ उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियाँ चित्रित हुईं और उनपर विजय-प्राप्ति के उपाय भी निर्दिष्ट हुए। पाण्डित्य के साथ-साथ सौन्दर्योन्मेष, रसोच्छल भावावेग, प्रेमविह्वलता, सांस्कृतिक चेतना और लालित्य की भी प्राणप्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार, प्राकृत-कथाएँ पुनर्मूल्यांकित होकर आख्यान-साहित्य के समारम्भ का मूल कल्प बनीं और उनका लक्ष्य हुआ-कर्ममल से मानव की मुक्ति और जीवन की उदात्तता के बल पर ईश्वरत्व में उनकी चरम परिणति या मोक्ष की उपलब्धि।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि प्राकृत-कथासाहित्य की मूलधारा आगमिक कथाओं के उद्गत होकर समकालीन विभिन्न प्राकृतेतर कथाओं को संचित-समेकित करती हुई पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रहीं। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने उचित ही लिखा है कि आगम-साहित्य प्राकृत कथा-साहित्य की गंगोत्तरी है। ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा आदि अंग तथा राजप्रश्नीय, कल्पिका, कल्पावतंसिका आदि उपांग प्राकृत-कथा-साहित्य के सुमेरुशिखर हैं।

उपर्युक्त ऊहापोह से यह निष्कर्ष स्थापित होता है कि प्राकृत-साहित्य की विभिन्न विधाओं में कथा-साहित्य का ऊर्जस्वल महत्त्व है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि प्राकृत कथा-साहित्य ने प्राकृत-काव्यों को अपदस्थ किया है। इसलिए कि कथा-साहित्य में यथार्थता का जो सातत्य है, उनका निर्वाह काव्य-साहित्य में प्रायः कम पाया जाता है। यद्यपि, अस्वाभाविक आकस्मिकता और अतिनाटकीयता से प्राचीन प्राकृत कथा-साहित्य भी मुक्त नहीं है। युगीनता के अनुकूल कथा-साहित्य के शिल्प और प्रवृत्ति में अन्तर अस्वाभाविक नहीं। घटनाओं और चरित्रों के समानान्तर विकास का विनियोग प्राकृत-कथाकार अच्छी तरह जानते थे। सांस्कृतिक चेतना की समरसता और धार्मिक सूत्र की एकतानता तथा उपमा और दृष्टान्तों की एकरस परम्परा के बावजूद प्राकृत-कथाओं की रोचकता और रुचिरता से इनकार नहीं किया जा सकता। सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह के साथ श्रेष्ठ चरित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विकास का प्रदर्शन प्राकृत-कथाओं का एक ऐसा मूल्यवान् पक्ष है कि जिससे समग्र कथा-साहित्य का निर्माण-कौशल विकसित हुआ है।

उपसमाहार

प्राकृत-साहित्य की तात्त्विक उपलब्धियाँ

तत्त्वत: प्राकृत-साहित्य, सहस्राधिक वर्षों तक, धार्मिक, सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय जन-जीवन का प्रतिनिधि-साहित्य रहा है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के अनेक आरोह-अवरोह प्रतिबिम्बित हुए हैं। जहाँ तक भारतीयेतिहास और संस्कृति का प्रश्न है, प्राकृत-साहित्य इन दोनों का निर्माता रहा है। यद्यपि प्राकृत का अधिकांश साहित्य अभी तक अध्ययन-अनुचिन्तन की प्रतीक्षा में है और उसके तथ्यों का तात्त्विक उपयोग इतिहास-रचना में नहीं किया जा सका है, तथापि वर्तमान में प्राकृत का जो साहित्य उपलब्ध हो पाया है, उसका फलक संस्कृत-साहित्य के समानान्तर ही बड़ा विशाल है। रूपक का सहारा लेकर हम ऐसा कहें कि प्राकृत और संस्कृत, साहित्य दोनों ऐसे सदानीर नद हैं, जिनकी अनाविल धाराएँ अनवरत एक-दूसरे में मिलती रही हैं। दोनों परस्पर अविच्छिन्न भाव से सम्बद्ध हैं। विधा और विषय की दृष्टि से प्राकृत-साहित्य की महत्ता सर्व-स्वीकृत है। भारतीय लोक-संस्कृति के सांगोपांग अध्ययन या उसके उत्कृष्ट रमणीय रूप-दर्शन का अद्वितीय माध्यम प्राकृत-साहित्य ही है। इसमें उन समस्त लोकभाषाओं का तुंग तरंग प्रवाहित हो रहा है, जिन्होंने भाषा के आदिकाल से देश के विभिन्न भागों की वैचारिक जीवन-भूमि को सिंचित कर उर्वर किया है एवं अपनी शब्द-संजीवनी से साहित्य के विविध क्षेत्रों को रसोज्ज्वल और ज्ञानदीप्त बनाया है।

शास्त्रीय दृष्टि से प्राकृत का उद्भव-काल ईसवी-पूर्व छठीं शती स्वीकृत है और विकास-काल सन् १२०० ई० तक माना जाता है। परन्तु, यह भी सही है कि प्राकृत-भाषा में ग्रन्थ-रचना ईसवी-पूर्व छठीं शती से प्राय: वर्तमान काल तक न्यूनाधिक रूप से निरन्तर होती चली आ रही है। यद्यपि, प्राकृतोत्तर काल में हिन्दी एवं तत्सहवर्त्तिनी विभिन्न आधुनिक भाषाओं और उपभाषाओं का युग आरम्भ हो जाने से संस्कृत तथा प्राकृत में ग्रन्थ-रचना की परिपाटी स्वभावत: मन्दप्रवाह परिलक्षित होती है। किन्तु, संस्कृत और प्राकृत में रचना की परम्परा अद्यावधि अविकृत और अक्षुण्ण है। और, यह प्रकट तथ्य है कि संस्कृत और प्राकृत दोनों एक-दूसरे के अस्तित्व को संकेतित करती हैं। इसलिए, दोनों में अविनाभावी सम्बन्ध की स्पष्ट सूचना मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत-साहित्यः भारतीय विचारधारा का प्रतिनिधि

प्राकृत-साहित्य पिछले ढाई हजार वर्षों का भारतीय विचारधारा का संवहन करता है। इसमें न केवल उच्चतर साहित्य और संस्कृति का इतिहास सुरक्षित है, अपितु मगध से पश्चिमोत्तर (दरद-प्रदेश) एवं हिमाचल से श्रीलंका (सिंहलद्वीप) तक के विशाल भू-पृष्ठ पर फैली तत्कालीन लोकभाषा का भास्वर रूप भी संरक्षित है। प्राकृत-साहित्य का बहुलांश यद्यपि जैन कवियों और लेखकों द्वारा रचा गया है, तथापि इसमें तद्युगीन जन-जीवन का जैसा व्यापक एवं प्राणवान् प्रतिबिम्बन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल भारतीय पुरातत्त्वेतिहास एवं भाषाविज्ञान (अपितु समस्त संस्कृत-वाङ्मय) का अध्ययन एवं मूल्यांकन तबतक शेष ही माना जाएगा, जबतक प्राकृत-साहित्य में सन्निहित ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिच्छवियों का, देश और काल के आधार पर, समानान्तर अनुशीलन नहीं किया जाएगा। सहज जन-जीवन और सरल जनभाषाओं की विभिन्न विच्छित्तिपूर्ण झलकियों के अतिरिक्त प्राकृत-साहित्य में भारतीय दर्शन, आचार, नीति, धर्म और संस्कृति की सुदृढ़ एवं पूर्ण विकसित परम्परा के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, अगर ढूँढ़िए तो, इसमें जटिल-ग्रन्थिल आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं के सुखावह समाधान भी मिल जायेंगे।

प्राकृत में संस्कृत के समानान्तर अध्ययन के तत्त्व

प्राकृत-साहित्य में साहित्य की विभिन्न विधाएँ- जैसे काव्य, कथा, नाटक, चरितकाव्य, चम्पूकाव्य, दूतकाव्य, छन्द, अलंकार, वार्त्ता, आख्यान, दृष्टान्त, उदाहरण, संवाद, सुभाषित, प्रश्नोत्तर, समस्यापूर्त्ति, प्रहेलिका प्रभृति-पाई जाती हैं। इस साहित्य में प्राप्य कर्मसिद्धान्त, खण्डन-मण्डन, विविध सम्प्रदायों की मान्यताएँ आदि हजारों वर्षों का इतिहास अपने में उपसंहृत किये हुए हैं। जन-जीवन की विभिन्न धारणाएँ, जीवन-मरण, रहन-सहन, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में अनेक पुरातन बातों की जानकारी के लिए प्राकृत-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य है। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म-साहित्य का अध्ययन वैदिक उपनिषदों के अध्ययन में पर्याप्त सहायक है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रसिद्धतर ग्रन्थ 'समयसार' के अध्ययन के बिना अध्यात्म और वेदान्तशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन अपूर्ण ही माना जाएगा। कहना तो यह चाहिए कि भारतीय चिन्तन का सर्वांगपूर्ण ज्ञान, जो संस्कृत-वाङ्मय में निहित है, प्राकृत-साहित्य के ज्ञान के बिना एकपक्षीय ही रह जायेगा। निष्कर्ष यह कि अन्वेषण और गवेषण के क्षेत्र में प्राकृत-साहित्य एक विराट् सारस्वत कोष ही प्रस्तुत कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत-साहित्यः भारतीय संस्कृति का मानचित्र

प्राकृत-साहित्य के अधीती विद्वान् डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अभिमत के अनुसार, प्राकृत-साहित्य में जहाँ एक ओर ऐहिक समस्याओं का समृद्ध चिन्तन पाया जाता है, वहीं दूसरी ओर पारलौकिक रहस्यपूर्ण समस्याओं के विश्वसनीय समाधान भी मिलते हैं। धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण में प्राकृत-साहित्य की द्वितीयता नहीं है, तो अर्थनीति-राजनीति के विश्लेषण में इस साहित्य की एकमेवता ही सिद्ध होती है। व्यापारिक कौशल के उदाहरण एवं शिल्पकला के मनोमोहक निखार की दृष्टि से भी प्राकृत-साहित्य की श्रेष्ठता अक्षुण्ण है। प्राकृत-साहित्य लोक-सौन्दर्य के मूल्यांकन के प्रति विशेषाग्रह रखता है, अतएव इसमें मानवता के पोषक तत्त्व- दान, तप, शील, सदाचार, सद्भाव आदि का निदेश बड़े मनोरम और मौलिक ढंग से आकलित हुआ है। इस विवेचना के आधार पर, अगर प्राकृत-साहित्य को समग्र भारत के सांस्कृतिक इतिहास के सर्वांगीण मानचित्र का प्रस्तोता कहा जाए, तो अतिशयोक्ति न होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

कर्पूरमञ्जरी में भारतीय समाज

डॉ० हरिशंकर पाण्डेय*

कर्पूरमञ्जरी महाकवि राजशेखर की महत्त्वपूर्ण रचना है। काव्यभाषा के रमणीय परिधान में जिस तरह लोक-समाज का लोकभाषा (प्राकृत) में चित्रण इस सट्टक ग्रंथ में मिलता है, वैसा अन्यत्र अप्राप्यप्राय है। यह ग्रंथ जीवन की सरसता और माधुर्य का, दाम्पत्य की मधुरिमा एवं सुभगता का, अभिनव प्रेम की अनिर्वचनीयता का ऐसा लावण्यमय चित्रण प्रस्तुत करता है कि भग्नावरण-चिद्विशिष्ट सामाजिक का चित्त इसमें रमण किए बिना नहीं मानता है। इस सट्टक में रूप और कमनीयता की रमणीय श्रोतास्विनी 'भद्दं भोदु'[१] से प्रारम्भ होकर अन्त तक उपचित होती हुई साहित्य के विशिष्ट रूप परम आनंद, परम-मोद रूप महासागर में विलीन हो जाती है, जहां न तो दरिद्रता का दु:ख है, न रिक्तता का विषाद। वहां पर केवल भगवती विलासवती महालक्ष्मी के कटाक्ष से अमृतवर्षण ही शेष रहता है -

रित्तत्तणदावग्गी विरमऊ विमलकडम्खवरिसेण।[२]

कर्पूरमञ्जरी का समाज आनन्द से परिपूरित समाज है। विलास एवं वैभव के साथ आह्लाद एवं रमणीयता का सुभग रूप विद्यमान है तो दैहिक सुन्दरता के साथ चैतसिक अनाविलता का सहज मिश्रण भी उपलब्ध है। निजरमणीयता, कोमलता और ईश्वरप्रदत्त चंगत्तण से सामाजिक जीवन ओतप्रोत है। वहां बाल्यसुलभ सहजता के साथ नवयौवनसम्पन्ना मुग्धा की रोमांचकता भी लसित है। शृंगार के साथ हास्य का वातावरण सोने में सुंगधी का काम करता है। कहीं-कहीं भक्ति का उद्रेक सामाजिक परिस्थितियों को और चंग बना देता है।

'समाज' शब्द का विमर्श

सम् उपसर्ग पूर्वक 'भ्वादिगणीय अजगतिक्षेपणयो:' धातु से 'अकर्तरिच कारके संज्ञायाम्'[३] सूत्र से घञ् प्रत्यय करने पर समाज शब्द बनता है। अमरकोशकार ने मनुष्यों के समूह को समाज कहा है - पशूनां समज: अन्येषां समाज:[४]। आचार्य

*अध्यक्ष एवं उपाचार्य, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेमचन्द्र ने स्पष्टता के साथ 'समाज' शब्द को परिभाषित किया है - समजस्तु पशूनां स्यात् समाजस्त्वन्यदेहिनाम्[५]। उन्होंने सभा के १२ नामों में से एक समाज को माना है -

सभा संसत्समाजः परिषत्सदः।
पर्षत्समज्या गोष्ठयास्था आस्थानां समितिर्घटा[६]।।

समाज के अन्तर्गत व्यक्ति, व्यक्तियों के समूह, परिवार, संस्कार, जीवन पद्धति, आमोद-प्रमोद, धार्मिक परिदृश्य का अध्ययन वांक्ष्य है।

व्यक्तिः व्यक्तिगत विकास एवं सुन्दरता कर्पूरमञ्जरी के समाज का प्रथम आदर्श है। वहां का हर पात्र आभ्यंतरिक कोमलता के साथ बाह्य रूप सौन्दर्य से परिपूर्ण है। कला और कविता का प्रेमी नायक 'चण्डपाल' गुणी तो है ही गुणज्ञ भी है। भीतरी रमणीयता के साथ बाह्य आकर्षण भी उसके व्यक्तित्व में सहजतया विद्यमान है। तभी तो रूप की रानी कर्पूरमञ्जरी उसके प्रथम दर्शन में ही अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है, संसार के सम्पूर्ण जीवित-युवकों को विह्वल बना देने वाले कटाक्ष-पात से ही अपने हृदय की सम्पूर्ण सुभगता को समर्पित कर उसी की हो जाती है। राजा की गम्भीरता एवं मधुरता रूप अलभ्य गुणों पर वह दिल दे बैठती है-

एसा महराओ को वि इमिणा गंभीरमहुरेण।

सोहासमुदाएण जाणीअदि। ता किं ति एदस्स महिलासहिदस्स वि दिट्ठी मे बहुमण्णेति।[७] तृतीया जवनिका में राजा को देखकर विरहव्यथिता कर्पूरमञ्जरी के आश्चर्यरस से परिपूरित स्वर राजा के व्यक्तित्व को रेखांकित करते हैं-

नायिका कहती है-
अम्मो किं एसो सहसा गअणंगणादो।
अवइण्णो पुण्णिमाहरिणंको[८]?

रूपवती कुमारी कर्पूरमञ्जरी तो सौन्दर्य की गुड़िया है। कालिदास की यक्षिणी विधाता की आद्या सृष्टि है, पार्वती विधाता के सम्पूर्ण श्रम का फल है, तो कुमारी कर्पूरमञ्जरी के निर्माण में दो विधाताओं का श्रम लगा है। कवि कहता है-

णूंण दुवे इह पआवइणो जअम्मि,
जे देहणिम्मवणजोव्वण दाणदक्खा।
एक्को घडेइ पढमं कुमरीणमंगं
कंडारिऊण पुणो दुईओ।।[९]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे ही अन्य पात्र हैं। देवी गम्भीरा है। विदूषक भी विद्वान् है।

परिवार: कर्पूरमञ्जरी के समाज में परिवार की दशा सुदृढ़ थी। पति-पत्नी, पुत्रादि के अतिरिक्त दास-दासी भी परिवार के अन्तर्गत ही माने जाते थे। पूरे परिवार में प्रेम का वातावरण विद्यमान था। हास्य, प्रसन्नता, सरलता तथा सहजता पारिवारिक जीवन में रोम-रोम में भरा था। माता-पिता के अतिरिक्त मौसी, भगिनी आदि पारिवारिक सम्बन्धों के द्योतक पदों का प्रयोग मिलता है। कर्पूरमञ्जरी देवी की मौसी की बेटी अर्थात् उसकी बहन है। कर्पूरमञ्जरी के द्वारा अपनी माता के नाम शशिप्रभा बताये जाने पर वह देवी मन ही मन कहती है-

सा वि में माउच्छिआ[१०]।

कर्पूरमञ्जरी को बहन जानकर दोनों परस्पर आलिंगन करती हैं-

रानी कहती है- एहि बहिणिए आलिंगसु मं[११]।

अपनी बड़ी बहन को बड़े प्रेम से कर्पूरमञ्जरी प्रथम प्रणाम करती है -

अम्महे। कप्पूरमंजरीए एसो पढमो पणामो[१२]।

खानपान: उस समय की भोजन व्यवस्था बहुत समृद्ध थी। प्राय: लोग शाकाहार का प्रयोग करते थे। चावल, दाल, गाय-भैंस के दूध, दही आदि का प्रयोग होता था। श्रेष्ठ कलमी चावल का भात दही के साथ अत्यधिक प्रिय भोज्य पदार्थों में से एक था। ब्राह्मण कपिंजल (विदूषक) का यह प्रिय खाद्य पदार्थ था। विदूषक को सिंदुवार के वृक्ष इसलिए प्रिय हैं कि वे कलमी चावल के समान गुच्छों को धारण करते हैं। उसी तरह वेली के पुष्प भी इसीलिए प्रिय लगते हैं क्योंकि वे भैंस के मथे हुए दही के समान दिखते हैं -

फुलुकरं कलमकूरसमं वहंति
जे सिदुंवारविडवा महवल्लहा ते।
जे गालियस्स महिसीदहिणो सरिच्छा।
ते किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुंजा।।[१३]

मदिरापान का भी उल्लेख मिलता है। वारुणीमदिरा उस समय के समाज में प्रिय थी। कौल मतानुयायी मांस खाते थे - मज्जं मंसं पिज्जए खज्जएअं।[१४]

वेषभूषा: तत्कालीन समाज में लोग सुन्दर परिधानों को धारण करते थे। उत्तरीय वस्त्र, पगड़ी, स्नानवस्त्र, कटिवस्त्र, चोली के अतिरिक्त अनेक प्रकार के रेशमी वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। भैरवानन्द के ध्यान विमान के द्वारा लायी गई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक स्नानशारी में विद्यमान कर्पूरमञ्जरी सामाजिकों के चित्त को बरबस अपहरण कर लेती है, वह चित्त पर अधिकार कर लेती है -

एक्केण पाणिणलिणेण णिवेसअंती
वत्थंचलं घणथणत्थलसंसमाणं।
चित्ते लिहिज्जदि ण कस्स वि संजमंती
अण्णेण चंकमणओ चलिअं कडिल्लं[१५]।।

आभूषणः तत्कालीन समाज में आभूषणों का बाहुल्य था। यद्यपि सामाजिक छइल्लजनों को निसर्ग रमणीयता काम्य थी फिर भी भूषणों द्वारा शोभा समुन्मीलन की बात स्वीकृत थी। निसर्ग-सौन्दर्य सम्पन्न व्यक्ति के शरीर में ही आभूषणों से शोभा का संवर्द्धन होता था -

निस्सग्गचंगस्स वि माणुसस्स सोहा समुम्मिलइ भूसणेहिं।[१६]

आभूषणों में एक्कावली (पृ० ४४), नुपूर (पृ० ४९), कंचीलता, कर्णोत्पल (१.३४, २.३७) आदि का अनेक बार वर्णन मिलता है। स्नानावस्था में ध्यानविमान से आगत कर्पूरमञ्जरी का देवी प्रभूत शृंगार करती है। अनेक आभूषणों एवं बहुमूल्य वस्त्रों से सजाती है। राजा के द्वारा पूछे जाने पर कि अंत:पुर में ले जाकर देवी ने कर्पूरमञ्जरी का क्या किया, जब विचक्षणा कहती है-

देव। मंडिता टिक्किदा भूसिदा तोसिदा अ। क०मं० १०३

अर्थात् देवी ने कर्पूरमञ्जरी को स्नानविलेपनादि से मण्डित किया, टीका लगाया, वस्त्र एवं अलंकारों से विभूषित किया तथा भोजन आदि के द्वारा संतुष्ट किया। षाण्णमासिक मोती के श्रेष्ठहार से कर्पूरमञ्जरी का मुख रूपी चन्द्रमा वैसा सुशोभित हो रहा है मानो तारागण पंक्तिबद्ध होकर उसकी सेवा कर रहे हैं -

कंठम्मि तीअ ठविदो छम्मासिअमोत्तिआणवरहारो।
सेवइ ता पंतीहिं मुहचंदं तरिआणिअरो[१७]।।

विलेपनः सौन्दर्य प्रसाधनों में विलेपनादि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्कालीन समाज चंदनरस, कर्पूररस, उवटन आदि अनेक प्रकार के विलेपन द्रव्यों से परिचित था। विभिन्न ऋतुओं में अनेक प्रकार के विलेपन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। शिशिर में लगाये जाने वाले विलेपन द्रव्यों से युवतियां अब बसंतारंभ में विमुख हो रही हैं -

बिंबोट्ठे बहलं ण देंति मअणं णो गंधतेल्लाविला,
वेणीओ विरअंति लेंति ण तहा अंगम्मि कुप्पासअं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जं बाला मुहकुंकुमम्मि वि य वट्टंति ढिल्लाअरा
तं मण्णे सिसीरं विणिज्जिअ बला पत्तो वसंतूसवो।।[१८]

यहां पर ओष्ठ पर प्रयोग किये जाने वाले मअणं (विशेष प्रकार के विलेपन द्रव्य) तथा मुह (गालों पर लगाए जाने वाले कुंकुम-विलेपन द्रव्य) का उल्लेख है। अन्यत्र भी कुंकुम का उल्लेख मिलता है -

जाअं कुंकुमपंकलीढमरढी[१९]...

औषध प्रयोगः चिकित्सकीय ज्ञान प्रभूत मात्रा में विद्यमान था। अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों का प्रयोग औषध के रूप में किया जाता था। हल्दी, चंदन, शिशिरोपचार सामग्री, चंदन रस आदि का प्रयोग होता था। चंदन को महोषधि के रूप में वर्णित किया गया है। चंदनरस रूप महोषधि ज्वरतप को दूर करने में समर्थ होता है लेकिन विरह जन्य ताप को वह दूर नहीं कर पाता -

ण चंदणमहोसहं हरइ देहदाहं च मे[२०]।

दो स्थलों पर शिशिरोपचार सामग्री का वर्णन भी मिलता है। निम्नलिखित श्लोक में अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन है -

दूरे किज्जउ चंपअस्स क लिआ कज्जं हलिद्दीअ किं
उत्तत्तेण अ कंचणेण गणणा का णाम जच्चेण वि।।
लावण्णस्स णवुग्गदिंदुमहुरच्छाअस्स तिस्सापुरो
पच्चग्गेहि वि केसरस्स कुसुमक्केरेहि किं कारणं।।[२१]

अर्थात् नवोदित चन्द्रमा की तरह मधुर कान्तिवाले उसके लावण्य के समक्ष चम्पा की कुली को दूर करो, हल्दी का भी क्या प्रयोजन? शुद्ध और तपाये हुए सोने की भी क्या गिनती? ताजे केशर के फूलों के ढेर से भी क्या प्रयोजन?

मनोरञ्जन के साधनः तत्कालीन सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के मनोरञ्जन के संसाधनों का प्रयोग किया जाता था। विविध-प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे। वंसतोत्सव या चैत्रमहोत्सव युवा हृदय को अत्यधिक प्रिय था। चैत्र महोत्सव काम का महोत्सव है। काम के बाण इतने तीक्ष्ण होते हैं कि उनसे घायल मानिनी युवतियों का मान पतियों के सामने ठहर नहीं पाता है -

माणं मुंचध देह वल्लहजणे दिट्ठिं तरंगुत्तरं
तारुण्णं दिअहाइ पंच दह वा पीणत्थणुत्थंमणं।
इत्थं कोइलमंजुसिंणामसा देवस्स पंचेसुणो
दिज्जा चेत्तमहावेण भुअणं आणव्व सव्वंकसा[२२]।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् हे युवतियों! प्रणयमान को छोड़ो, तथा अपने प्रेमियों में प्रेम भरी-उत्सुकतापूर्ण दृष्टि को लगाओ, क्योंकि उन्नत स्तनों से युक्त जवानी पांच अथवा दस दिन की ही है। इस प्रकार कोयल के मधुर तान के बहाने कामदेव की सर्वव्यापी आज्ञा मानो जो चैत्र महोत्सव के द्वारा संसार में प्रसारित की जा रही है।

सभ्य समाज में सभा का आयोजन मनोरंजन का उत्कृष्ट संसाधन था। काव्य-पाठादि का प्रयोग होता था। राजा की सभा में विदूषक, विचक्षणा, सुलक्षणा आदि अपनी प्रतिभा वैशिष्ट्य के अनुसार काव्य पाठ करते हैं। राजा के मनोरंजन के लिए वैतालिक स्तुतिगान करते थे। क्रीड़ोद्यान में क्रीड़ा करना, दोला अथवा झूला झूलना, शुक आदि पक्षियों का पालनादि मनोरंजन के प्रमुख संसाधन थे।

विवाह - उस समय विवाह एक पवित्र संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित था। एक विवाह के साथ बहुविवाह की भी प्रथा प्रचलित थी। नायक चण्डपाल देवी के होते हुए भी यौवन सुन्दरी कर्पूरमञ्जरी से चामुण्डा के मंदिर में विवाह करता है। अन्तर्जातीय विवाह प्रथा भी प्रचलित थी। कवि राजशेखर स्वयमेव ब्राह्मण थे लेकिन उनका विवाह अवन्ती सुन्दरी नामक एक क्षत्रिय कन्या के साथ हुआ था। वह चौहानवंश की कुमारी थी और राजशेखर यायावरवंशीय ब्राह्मण थे। अवन्ती सुन्दरी सर्वांगलावण्यवती युवती तो थी ही कला प्रेमी भी थी। उसी के आदेश से कर्पूरमञ्जरी का प्रथम अभिनय किया गया था। पारिपार्श्विक कहता है - चाहुआणकुलमउलिमालिआ राअसेहरकइंद गेहिणी। भत्तुणो किइमवंतिसुंदरी सा पउंजइउमेअमिच्छतिइ[२३]।।

अन्य प्रथाएं: तत्कालीन समाज में अनेक प्रकार की लोकरीतियां एवं सामाजिक प्रथाएं प्रचलित थीं। विवाह प्रथा के अतिरिक्त दास प्रथा भी थी। अनेक दास-दासी संपन्न लोग सेवा के लिए रखते थे। विचक्षणा और सुलक्षणा दोनों बहनें राजा की दासियां हैं, जो न केवल सेवा-पारायण है अपितु शास्त्रमर्मज्ञ भी हैं। दासी को सैरन्ध्री (१/३६) भी कहते थे। एक विशिष्ट प्रथा का भी उल्लेख मिलता है - 'खलखंड। नायिका कर्पूरमञ्जरी अपनी मां शशिप्रभा की खलखंड से खरीदी गई पुत्री है। वह स्वयं कहती है -

'तेहिं अहं खलखंडेहिं कीणिदा दुहिद त्ति बुच्चामि[२४]

जिन माताओं के सन्तान जीवित नहीं रहती थीं वे माताएं अपने सद्यःजातपुत्र को किसी को दे देती थीं और उसके बदले में धन देकर पुनः वापस सन्तान को खरीद लेती थीं - यह प्रथा ही खलखंड प्रथा है। मृत्युपरान्त मृतक के नाम पर तिलांजलि या जलांजलि देने की प्रथा का उल्लेख भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वंट्टति ते तिलजलंजजलिदाणजोग्गा[२५]।
सिसिरोवयारसामग्गीए जलंजली दिज्जइ[२६]।

शिक्षा और कला: तत्कालीन समाज में शिक्षा एवं कला उन्नतावस्था में थी। चारों वेदों के साथ अन्य विद्याओं का भी अध्ययन किया जाता था। मंत्र-तंत्र विद्या की साधना भी होती थी। पंचमकार साधना का तांत्रिक मार्ग भी प्रचलित था। भैरवानंद नामक पात्र कौल मत का साधक था।

कलाएं उत्कर्ष को प्राप्त थीं। काव्यकला, नाट्यकला, नृत्यकला, गीतकला, चित्रकला, वाद्यकला, भूषणकला, वास्तुकला, माला-निर्माणकला आदि कलाओं का उल्लेख कर्पूरमञ्जरी में मिलता है। वाद्यकला में वंशी, वीणा, मृदंग, कांस्यताल आदि वाद्यों का वर्णन प्राप्त है। लेखनकला का उन्नत रूप मिलता है। केतकी के दल पर भी कस्तूरी मिश्रित स्याही से लेख लिखे जाते थे। कर्पूरमञ्जरी अपना संदेश राजा के पास केतकी दललेख के द्वारा भेजती है।[२७] एक स्थल पर ताड़पत्र लेख का भी वर्णन मिलता है। विरह-विदग्ध नायक बार-बार ताड़पत्र को ही देखता है, यद्यपि प्रतिहारी उसके हृदय को अन्यत्र लगाना चाहता है। प्रतिहारी मन ही मन कहता है - कहं अज्ज वि सो ज्जेव सिरितालीपत्तसंचओ ताओ ज्जेव अक्खरपंतीओ[२८]। नृत्यकला के अन्तर्गत चर्चरी[२९], दंडरासक[३०], चल्ली[३१] एवं योगिनीवलय आदि लोक नृत्यों का वर्णन मिलता है। अभिनय कला भी वर्णित है। वाद्यादि के मुखौटा पहनकर युवतियां अभिनय करती थीं।[३२]

नारी की दशा: नारी की दशा अच्छी थी। नारियां शिक्षा और कला में भी पुरुषों से आगे थीं। सुलक्षणा और विचक्षणा के कवित्व के सामने विदूषक की कविता विरस हो जाती है।

धार्मिक पूजा पद्धति: तत्कालीन समाज में सरस्वती, शिव, पार्वती, चामुण्डा, कामदेव आदि देवों की पूजा-पद्धति प्रचलित थी। विवाह के समय चामुण्डा की पूजा होती थी। हिंदोलन चतुर्थी के अवसर पर अखण्ड सौभाग्य की प्राप्ति के लिए युवतियां अर्धनारीश्वर की पूजा करती थीं। चामुण्डा के मंदिर का भी वर्णन मिलता है[३३]। कर्पूरमञ्जरी का विवाह चामुण्डा मंदिर में ही सम्पन्न हुआ था। कर्मवाद का प्रचलन था[३४]। कौलमत का प्रचलन था[३५]।

इस प्रकार कर्पूरमञ्जरी में उन्नत समाज का वर्णन मिलता है। पारिवारिक सुख-शांति के साथ-साथ शिक्षा कला में भी तत्कालीन समाज सम्पन्न था। नारियों की दशा उन्नत थी। धार्मिक सम्प्रदायों में कौलमत का बोलबाला था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ :

१. **कर्पूरमञ्जरी** - १.१ (सम्पादक डा० सुदर्शन लाल जैन)
२. **तत्रैव** ४.५.
३. **पाणिनि सूत्र** ३.३.१९.
४. **अमरकोश** २.५.४२.
५. **अभिधान चिन्तामणि** ६.५०.
६. **तत्रैव** ३.१४५.
७. **कर्पूरमञ्जरी**, पृ० ६३.
८. **तत्रैव** ३.२० के बाद का गद्यांश, पृ० १९१.
९. **कर्पूरमञ्जरी** ३.१७.
१०. **तत्रैव** पृ० ७४.
११. **तत्रैव** पृ० ७६.
१२. **तत्रैव** पृ० ७६.
१३. **तत्रैव** १.१.१९.
१४. **तत्रैव** १.२२.
१५. **तत्रैव** १.२७.
१६. **तत्रैव** १.३०.
१७. **तत्रैव** २.१७.
१८. **तत्रैव** १.१३.
१९. **तत्रैव** ७.१६.
२०. **तत्रैव** ३.२०.
२१. **तत्रैव** ३.१.
२२. **तत्रैव** १.१७.
२३. **तत्रैव** १.१०.
२४. **तत्रैव** पृ० ७५.
२५. **तत्रैव** ३.५.
२६. **तत्रैव** पृ० १४३.
२७. **तत्रैव** पृ० ९३.
२८. **तत्रैव** पृ० ८४.
२९. **तत्रैव** पृ० १०१.
३०. **तत्रैव** ४.११.
३१. **तत्रैव** ४.१२.
३२. **तत्रैव** ४.१५.
३३. **तत्रैव** ४.१९
३४. **तत्रैव** २.८.
३५. **तत्रैव** १.२१-२४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

तत्त्वार्थसूत्र का पूरक ग्रन्थ : जैन सिद्धान्त-दीपिका

डॉ० धर्मचन्द जैन*

जैन धर्म-दर्शन को संस्कृत-सूत्रों में प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय वाचक उमास्वाति को जाता है, जिन्होंने ईसा की द्वितीय-तृतीय शती में दश अध्यायों में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। कतिपय सूत्रों पर मतभेद को छोड़कर यह तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म के समस्त सम्प्रदायों में समान रूप से आदृत है। इसका स्पष्ट निदर्शन है कि पूज्यपाद देवनन्दी, अकलङ्क, विद्यानन्द, श्रुतसागर आदि दिगम्बर आचार्यों के द्वारा तथा सिद्धसेनगणि, हरिभद्रसूरि, यशोविजय आदि श्वेताम्बर आचार्यों के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ लिखी गईं। बीसवीं शती में तेरापंथ संघ के आचार्य श्री तुलसी जी ने तत्त्वार्थसूत्र की शैली में जैन सिद्धान्त को संस्कृत-सूत्रों में निबद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। उनके द्वारा रचित कृति का नाम है- 'जैन सिद्धान्त-दीपिका'। तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में अनेक तात्त्विक एवं दार्शनिक ग्रन्थों तथा टीकाओं का निर्माण हुआ, किन्तु जैन सिद्धान्त को तत्त्वार्थसूत्र की भाँति संस्कृत-सूत्रों में उपनिबद्ध करने के व्यवस्थित प्रयत्न का श्रेय आचार्य श्री तुलसी जी को जाता है। जैन सिद्धान्त-दीपिका आचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित है तथा तत्त्वार्थसूत्र की भाँति दश अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'प्रकाश' नाम दिया गया है। उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र में जहां ३४४ सूत्र हैं (दिगम्बर-परम्परानुसार ३५७ सूत्र हैं) वहां जैन सिद्धान्त-दीपिका में ३०८ सूत्र हैं। तत्त्वार्थसूत्र का प्रारम्भ जहाँ मोक्ष मार्ग के कथन से हुआ है वहाँ जैन सिद्धान्त-दीपिका का प्रारम्भ द्रव्य-विवेचन से हुआ है। 'जैन सिद्धान्त-दीपिका' नाम से यह विदित होता है कि इसकी रचना का लक्ष्य जैन सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रकाशित करना है।

तत्त्वार्थसूत्र और जैन सिद्धान्त-दीपिका की विषयवस्तु में पर्याप्त साम्य होना स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों ग्रन्थ जैन तत्त्वज्ञान का ही प्रकाशन करते हैं, तथापि इस नवग्रन्थ के निर्माण का अपना उद्देश्य है। नवीनता के बिना नई कृति का निर्माण कोई महत्त्व नहीं रखता। तत्त्वार्थसूत्र एवं जैन सिद्धान्त-दीपिका का अध्ययन करने पर विदित होता है कि दीपिका में अनेकविध नवीनताएँ हैं।

*एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करने पर विदित होता है कि जैन सिद्धान्त-दीपिका उसका एक पूरक ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र में जिन अनेक पारिभाषिक शब्दों के लक्षण उपलब्ध नहीं हैं, उनके लक्षण जैन सिद्धान्त-दीपिका में सम्प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए लोक, अलोक, परमाणु, स्कन्ध, देश-प्रदेश, गुण, पर्याय, अर्थ पर्याय, व्यञ्जन पर्याय, स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय, उपयोग, साकारोपयोग, अनाकारोपयोग, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा; औपपत्तिकी, वैनयिकी आदि चारों बुद्धियों के लक्षण जैन सिद्धान्त-दीपिका में सूत्र निबद्ध हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय, मन, भाव, उपशमादि पाँचों भावों; पर्याप्ति, प्राण, अजीव, कर्म, प्रकृति, स्थिति आदि चतुर्विध बन्ध; पुण्य, पाप, मिथ्यात्व, अविरति आदि पाँच आस्रवों; लेश्या, करण, सम्यक्त्व-अविरति आदि पाँच संवरों; निर्जरा, सिद्ध आदि के लक्षण भी दीपिका की विशेषता को स्थापित करते हैं। षष्ठ प्रकाश में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अहिंसा-सत्य आदि पाँच महाव्रतों; ईर्या आदि पाँच समितियों; अनुप्रेक्षा, भावना, संलेखना, अनशन आदि द्वादश तपों के लक्षण तथा सप्तम प्रकाश में जीवस्थान, १४ गुणस्थानों, शरीर, समुद्घात आदि के लक्षण निरूपित हैं। अष्टम प्रकाश में देव, गुरु एवं धर्म तथा लोकधर्म के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है, नवम प्रकाश में दया, मोह, राग, द्वेष, माध्यस्थ्य, असंयम, संयम, उपकार, सुख एवं दुःख के लक्षण दिए गए हैं। दशम प्रकाश में प्रमाण, नय एवं निक्षेप के चारों प्रकारों का लक्षण-सहित स्पष्ट निदर्शन किया गया है। इस प्रकार शताधिक पारिभाषिक शब्दों के लक्षण जो तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हैं, जैन सिद्धान्त-दीपिका में प्राप्त हैं। इससे इस कृति की विशेषता एवं प्रयोजनवत्ता स्पष्ट हो जाती है।

नाम से यह कृति स्वतन्त्र ग्रन्थ की प्रतीति नहीं कराती, क्योंकि 'दीपिका' शब्द का प्रयोग टीका के लिए भी होता रहा है। धर्मभूषण रचित 'न्यायदीपिका' जैसी कृतियाँ इसका अपवाद हैं। न्यायदीपिका जैन-न्याय का स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'जैन सिद्धान्त-दीपिका भी स्वतन्त्र कृति होने का परिचय देती है। यह ज्ञातव्य है कि न्यायदीपिका सूत्र ग्रन्थ नहीं है, जबकि प्रस्तुत कृति सूत्र-ग्रन्थ है। 'दीपिका' शब्द दीपक का स्त्रीलिङ्ग है। दीपक प्रकाशक होता है। इस अर्थ में जैन सिद्धान्त की प्रकाशक होने से इस कृति का नाम 'जैन सिद्धान्त-दीपिका' सार्थक है।

पूर्वोक्त शताधिक लक्षणों के अतिरिक्त जैन सिद्धान्त-दीपिका में कतिपय विषय सर्वथा नवीन हैं, यथा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) चतुर्थ प्रकाश में कर्म की बन्ध, उद्वर्तना, अपर्वतना आदि दश अवस्थाओं का वर्णन। तत्त्वार्थसूत्र में इनका उल्लेख नहीं है, जबकि जैन सिद्धान्त-दीपिका में प्रत्येक अवस्था को स्पष्ट किया गया है। (द्रष्टव्य सूत्र - ५ एवं उसकी वृत्ति)।

(ii) सप्तम प्रकाश में १४ गुणस्थानों का वर्णन। तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों का उल्लेख नहीं हुआ है, जैन सिद्धान्त-दीपिका में प्रत्येक गुणस्थान का लक्षण सूत्रबद्ध किया गया है। (द्रष्टव्य सूत्र २ से १६), तत्त्वार्थसूत्र में असंख्यगुण अधिक निर्जरा के जिन सम्यक्दृष्टि श्रावक आदि दश स्थानों का उल्लेख (९.४७) हुआ है, उसका निरूपण जैन सिद्धान्त-दीपिका में अलग से हुआ है। (द्रष्टव्य सप्तम प्रकाश, सूत्र १८)

(iii) अष्टम प्रकाश में देव, गुरु एवं धर्म का विवेचन। तत्त्वार्थसूत्र में धर्म का विवेचन तो नवम अध्याय में (सूत्र ६) हुआ है, किन्तु देव एवं गुरु को पृथक से महत्त्व नहीं मिला है। आचार्य श्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त-दीपिका में एक पूरा अध्याय देव, गुरु एवं धर्म की विवेचना में लगाया है। उन्होंने अर्हन् को देव (अर्हन् देवः, ८.१), निर्ग्रन्थ को गुरु (निर्ग्रन्थों गुरु, ८.२) एवं आत्मशुद्धि के साधन को धर्म (आत्म शुद्धि साधन धर्मः, ८.३) कहा है। धर्म के एक, दो, तीन, चार, पाँच एवं दस प्रकारों का निरूपण किया है। धर्म के दस प्रकार वे ही क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में भी हुआ है (९.६) किन्तु एक, दो, तीन, चार एवं पॉच प्रकारों का संयोजन नया है। धर्म के एक प्रकार में अहिंसा का, दो प्रकारों में श्रुत एवं चारित्र का तथा संवर एवं निर्जरा का उल्लेख है। तीन प्रकारों में स्वधीत, सुध्यात, एवं सुतपस्यित का, चार प्रकारों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप का तथा पाँच प्रकारों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, बह्मचर्य एवं अपरिग्रह का उल्लेख है। (द्रष्टव्य सूत्र ५-१०)

(iv) दशम प्रकाश में प्रमाण, नय एवं निक्षेप के लक्षण देते हुए चार प्रकार के निक्षेपों का विवेचन किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव निक्षेप का उल्लेख (१.५) मात्र है, जबकि दीपिका में प्रत्येक का लक्षण भी दिया गया है (सूत्र ६-९)। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में निरूपित अनुयोगों के दो सूत्रों (७ एवं ८) का समावेश यहां पर एक ही सूत्र (दशम प्रकाश, सूत्र ११) में कर दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र के जिन विषयों की जैन सिद्धान्त-दीपिका में चर्चा नहीं की गई है, वे मुख्यतः इस प्रकार हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) नरक एवं देवलोक तथा इनमें रहने वाले नारक एवं देवों का वर्णन। तत्त्वार्थसूत्र के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय क्रमशः उपर्युक्त विषयों का वर्णन करते हैं, जिसे आचार्य श्री तुलसी ने सम्भवतः आधुनिक युग में अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है।

(ii) ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों के बन्ध के अलग-अलग कारणों का निर्देश। तत्त्वार्थसूत्र के षष्ट अध्याय में (सूत्र ११ से २६) आठों प्रकार के कर्मों के पृथक-पृथक बन्ध कारणों का निर्देश है, जिसे जैन सिद्धान्त-दीपिका में छोड़ दिया गया है।

(iii) श्रावक के १२ व्रतों के अतिचार। तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय में (सूत्र २० से ३१) श्रावक के व्रतों के अतिचारों का नामोल्लेख है, जबकि जैन सिद्धान्त-दीपिका में इनकी कोई चर्चा नहीं है।

(iv) अष्टविध कर्मों की ९७ उत्तर प्रकृतियों के नाम। जैन सिद्धान्त-दीपिका में इन उत्तर प्रकृतियों के नाम परिशिष्ट में हिन्दी में दिए गए हैं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र के अष्टम अध्याय में इन नामों को सूत्रों (५-१४) में गूँथा गया है। इसमें सभी कर्मों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति का भी उल्लेख है, जबकि जैन सिद्धान्त-दीपिका में लेखक ने इन्हें स्थान नहीं दिया है।

प्रस्तुत निबन्ध में दोनों ग्रन्थों (तत्त्वार्थसूत्र और जैन सिद्धान्त-दीपिका) में चर्चित ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध में तुलनात्मक विचार करना ही प्रमुख लक्ष्य है।

ज्ञान निरूपण

जैन दर्शन में प्रतिपादित ज्ञान एवं इसके भेदों में कहीं कोई मतभेद नहीं है, इसलिए ऐसा मतभेद इन दोनों ग्रन्थों में भी नहीं हो सकता। दोनों ही ग्रन्थ सम्यग्ज्ञान को मोक्षमार्ग में सम्मिलित करते हैं तथा उसके पाँच भेदों का निरूपण करते हैं। ज्ञान के पाँच प्रकार हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान। दोनों ग्रन्थों में यह तुलना अवश्य हो सकती है कि उनका वर्णनगत वैशिष्ट्य क्या है, यथा-

१. तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन का तो लक्षण दिया गया है, किन्तु सम्यग्ज्ञान का लक्षण नहीं दिया गया। जैन सिद्धान्त-दीपिका में इसका लक्षण दिया गया है- 'यथार्थबोधः सम्यग्ज्ञानम्।' यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। किन्तु यह लक्षण आगम-परम्परा में मान्य सम्यग्ज्ञान की पूर्ण व्याख्या नहीं करता। आगम के अनुसार सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यक् होता है। उसकी सम्यक्ता अर्थ के अनुरूप होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर नहीं, अपितु दृष्टि की सम्यक्ता पर निर्भर करती है। यथार्थबोध रूप जो लक्षण है वह 'प्रमाण' के अर्थ में मान्य सम्यग्ज्ञान के लिए उपयुक्त ठहरता है। कदाचित् दृष्टि सम्यक् नहीं होने पर भी वस्तु का संवादी-यथार्थ ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। मिथ्यात्वी उसी आधार पर वस्तु को जानते एवं स्मरण आदि करते हैं। उनका यथार्थबोध, संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होता है, किन्तु मिथ्यात्व से रहित नहीं होता। जबकि जो मोक्षपायभूत है वह मिथ्यात्व से रहित होता है।

आचार्यश्री ने प्रमाण का लक्षण 'यथार्थज्ञानं' दिया है (८.२)। दोनों स्थानों पर जो 'यथार्थ' शब्द है, इनमें क्या भेद है, उस पर विचार अपेक्षित है। यदि सम्यग्ज्ञान के लक्षण में 'सम्यग्दर्शन सति जोड़ दिया जाए तो मोक्षोपायभूत सम्यग्ज्ञान का पूर्ण लक्षण बन जाता है।

२. जैन सिद्धान्त की यह विशेषता है कि इसमें सभी ज्ञानों के लक्षणों के लिए पृथक रूप से सूत्र रचे गए हैं, यथा-

(i) मतिज्ञान- इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः। (जैन सिद्धान्त-दीपिका २.८) अर्थात् इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में भी लगभग यही लक्षण दिया गया है, यथा- तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् (तत्त्वार्थसूत्र १.१४)

(ii) श्रुतज्ञान- द्रव्यश्रुतानुसारिपरप्रत्यायनक्षमं श्रुतम् (दीपिका २.२। द्रव्यश्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में समर्थज्ञान श्रुतज्ञान है। द्रव्यश्रुत का अर्थ है- शब्द, संकेत आदि। तत्त्वार्थसूत्र में इसका लक्षण- विधायक सूत्र नहीं है, किन्तु उसका मति ज्ञान पूर्वक होना कहा गया है-

श्रुतं मतिपूर्वं.. (१.२०)

(iii) अवधिज्ञान- आत्ममात्रापेक्षं रूपिद्रव्यगोचरमनवधिः। (दीपिका २.२४) इन्द्रियादि सहायता के बिना सीधे आत्मा से होने वाला रूपी द्रव्यों का ज्ञान अवधिज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में अवधिमान का लक्षण तो नहीं दिया गया, किन्तु अवधिमान के विषय का निरूपण करते हुए उसे स्पष्ट कर दिया गया है, यथा- रूपिष्ववधेः। तत्त्वार्थसूत्र १.२८

(iv) मनःपर्यायज्ञान- मनोद्रव्यपर्यायप्रकाशि मनःपर्यायः। (दीपिका २.२८) मनोद्रव्य एवं उसके पर्याय का प्रकाशक ज्ञान मनःपर्याय है। तत्त्वार्थसूत्र में इसका लक्षण न देकर उसके विषय का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि अवधिमान के विषय के अनन्तवें भाग को मनःपर्याय ज्ञान द्वारा जाना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य १.२९) मनः पर्याय ज्ञान द्वारा जाना जाता है। मन भी रूपी द्रव्य है और वह समस्त रूपी द्रव्यों का अनन्तवाँ भाग है।

(v) **केवलज्ञान-** निखिल द्रव्य पर्याय साक्षात्कारि केवलम् (दीपिका २.३१)। समस्त द्रव्यों एवं उनकी समस्त पर्यायों का साक्षात्कारी ज्ञान केवलज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में इसके विषय की निरूपता करते हुए कहा गया है- 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।' (तत्त्वार्थसूत्र १.३०)

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जैन सिद्धान्त-दीपिका में पाँचों ज्ञानों के लक्षणों का व्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है, तत्त्वार्थसूत्र में उसे ज्ञान के विषयनिरूपण आदि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि- तत्त्वार्थसूत्र में जिस प्रकार श्रुतज्ञान को मतिज्ञानपूर्वक होना कहा है, उस प्रकार का कोई निर्देश दीपिका में नहीं है। यह तथ्य दीपिका में सोच विचार कर छोड़ा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

'श्रुतज्ञान' के लक्षण में जो 'परप्रत्यायत्रक्षमं' विशेषण है, क्या वह एकेन्द्रियादि जीवों में प्राप्त श्रुत-अज्ञान में घटित होता है? विचारणीय है। श्रुतज्ञान दूसरे को बोध कराने के लिए होता है, इस लक्षण का क्या आधार है? श्रुतज्ञान तो स्वयं धारक का भी मार्गदर्शन करता है।

३. जैन सिद्धान्त-दीपिका में श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार भेदों - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के लक्षणों को सूत्र में आबद्ध किया गया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में इनके नामों का ही उल्लेख है, लक्षणों का नहीं। तत्त्वार्थ भाष्य में अवश्य उनके लक्षण प्रदत्त हैं, किन्तु आचार्य श्री तुलसी जी के द्वारा प्रदत्त लक्षण विशेषावश्यक भाष्य एवं प्रमाण शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रदत्त लक्षणों से प्रभावित हैं, तत्त्वार्थभाष्य से नहीं। दीपिका में प्रदत्त लक्षण इस प्रकार हैं-

(i) **अवग्रह-** इन्दियार्थयोगे दर्शनान्तरं सामान्यग्रहण्मवग्रहः। (दीपिका २.११) इन्द्रिय एवं पदार्थ का संयोग होने पर दर्शन के पश्चात् जो सामान्य का ग्रहण होता है, वह अवग्रह है।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि अवग्रह एक ज्ञान है। ज्ञान 'विशेष' का ग्राहक होता है और दर्शन सामान्य का। उपर्युक्त लक्षण से (दर्शन और अवग्रह) में जो भेद है, वह पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता। आचार्यश्री ने ज्ञान को पर्याय का एवं दर्शन को ध्रौव्य (द्रव्य) का ग्राहक प्रतिपादित किया है। (२.५-६) ध्रौव्य सामान्य होता है एवं पर्याय विशेष होती है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि वाचक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों को एवं उनकी असमस्त पर्यायों को बताया है। यदि ज्ञान पर्याय को ही जानता है तो वह द्रव्य को किस प्रकार जान सकेगा?

(ii) ईहा- अमुकेन भाव्यमिति प्रत्यय ईहा। (दीपिका २. १३) अमुक होना चाहिए, इस प्रकार के प्रत्यय को ईहा कहा जाता है। ईहा का यह लक्षण महत्त्वपूर्ण है। अनेक स्थलों पर ईहा को विशेष आकांक्षा, जिज्ञासा, चेष्टा आदि शब्दों से कहा गया है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता।

(iii) अवाय- अमुक एवेत्यवायः। (दीपिका २. १४)
अमुक ही है, ऐसा निर्णय अवाय है।

(iv) धारणा- तस्यावस्थितिधारणा। (दीपिका २. १५)
अवाय रूप निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति धारणा है।

४. जैन सिद्धान्त-दीपिका में अश्रुत निश्रित मतिज्ञान के रूप में वर्णित औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी नामक चार बुद्धियों को विशेष महत्त्व देते हुए उनके पृथक्रूपेण लक्षण दिए गए हैं। तत्त्वार्थसूत्र एवं भाष्य में चारों बुद्धियों के सम्बन्ध में कोई वर्णन नहीं है। दीपिका में प्रदत्त लक्षण इस प्रकार हैं-

(i) औत्पत्तिकी- अदृष्टाश्रुतार्थग्राहिणी औत्पत्तिकी। (दीपिका २. १७) अदृष्ट एवं अश्रुत अर्थ के सम्बन्ध में तत्काल ज्ञान कराने वाली बुद्धि औत्पत्तिकी है। इसे प्रतिभा एवं प्रातिभ ज्ञान भी कहा गया है।

(ii) वैनयिकी- विनयरामुत्था वैनयिकी। (दीपिका २. १८) विनय से उत्पन्न बुद्धि वैनयिकी है। गुरु की शुश्रूषा अथवा ज्ञान और ज्ञानों के प्रति विनम्रभाव को आचार्यश्री ने विनय कहा है।

(iii) कार्मिकी- कर्मसमुत्था कार्मिकी। (दीपिका २. १९)
कर्म अर्थात् अभ्यास से उत्पन्न कार्मिकी है।

(iv) पारिणामिकी- परिणामजनिता पारिणामिकी। (दीपिका २. २०)

परिणाम से उन्पन्न होनेवाली बुद्धि पारिणामिकी है। आचार्यश्री ने वयः परिणति को परिणाम कहा है।

५. तत्त्वार्थसूत्र में अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव तथा इनके विपरीत अल्प, अल्पविध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव के रूप में १२-१२ प्रकार निरूपित हैं, (तत्त्वार्थसूत्र १. १६) जबकि जैन सिद्धान्त-दीपिका में इन्हें छोड़ दिया गया है।

६. आचार्य श्री तुलसी जी ने जातिस्मरणज्ञान को मतिज्ञान का ही एक भेद प्रतिपादित करने हेतु सूत्र निर्माण किया है- जातिस्मृतिरपि मतेर्भेदः (२. २१)।

७. कर्मग्रन्थ आदि के आधार पर जैन सिद्धान्त-दीपिका में श्रुतज्ञान के १४ भेद प्रतिपादित हैं- १. अक्षरश्रुत २. अनक्षरश्रुत ३. संज्ञिश्रुत ४. असंज्ञिश्रुत ५. सम्यक् श्रुत ६. मिथ्याश्रुत ७. सादिश्रुत ८. अनादिश्रुत ९. सपर्यवसितश्रुत १०. अपर्यवसितश्रुत ११. गमिकश्रुत १२. अगमिक श्रुत १३. अङ्गप्रविष्टश्रुत एवं अनङ्गप्रविष्टश्रुत। तत्त्वार्थसूत्र में श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट एवं अनंगप्रविष्ट भेद ही निर्दिष्ट हैं तथा अनंगप्रविष्ट (अंगबाह्य) के अनेक एवं अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान के आचारांग आदि १२ भेद किए गए हैं- श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् । (तत्त्वार्थसूत्र १. २०).

८. मनःपर्याय ज्ञान के ऋजुमति एवं विपुलमति प्रकारों के भेद तत्त्वार्थसूत्र में दो आधारों पर प्रतिपादित हैं- विशुद्ध और अप्रतिपात। 'विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः- १. २५' ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है तथा ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान एक बार होने के पश्चात् नष्ट भी हो सकता है जबकि विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान केवल ज्ञान होने तक बना रहता है। वह एक बार होने के पश्चात् नष्ट नहीं होता। जैन सिद्धान्त-दीपिका में मनःपर्याय ज्ञान के इन दोनों भेदों को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सामान्य रूप से मनोद्रव्य को ग्रहण करने वाला ज्ञान ऋजुमति एवं उसकी विशेष पर्यायों को ग्रहण करने वाला ज्ञान विपुलमति कहलाता है। इसमें विशुद्धि की अधिकता का लक्षण तो फलित हो जाता है, किन्तु 'अप्रतिपात' लक्षण छूट गया है।

९. तत्त्वार्थसूत्र में पाँच ज्ञानों में से प्रथम दो ज्ञानों को परोक्ष प्रमाण तथा अन्तिम तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण में विभक्त कर प्रमाण मीमांसा का व्यवस्थित निरूपण किया गया है, जबकि जैन सिद्धान्त-दीपिका के दशमप्रकाश में प्रमाण-लक्षण के अतिरिक्त कोई चर्चा नहीं की गई है।

१०. जैन सिद्धान्त-दीपिका में नय का लक्षण (अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः, १०. ३) तो प्राप्त है, किन्तु उसके भेदों का कोई उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में नय के भेदों का कथन (सूत्र १. ३४-३५) है, लक्षण का नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन सिद्धान्त-दीपिका ने जैन ज्ञानमीमांसा के अनेक पारिभाषिक शब्दों के लक्षण दिए हैं, जो इसके वैशिष्ट्य को इंगित करते हैं।

ज्ञेय निरूपण

ज्ञेय के व्यापक क्षेत्र में षड्द्रव्यों एवं नव तत्त्वों का समावेश हो जाता है। षड्द्रव्य हैं- धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। नव तत्त्व हैं- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इनके सम्बन्ध में दोनों ग्रन्थों में प्राय: पूरी समानता है। जहाँ पर विशेषता या विषमता है, चर्चा यहाँ की जा रही है-

१. तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, एवं मोक्ष- इन सात तत्त्वों का ही निरूपण है, पुण्य एवं पाप तत्त्व का समावेश आस्रव में कर लिया गया है। जैन सिद्धान्त-दीपिका में पुण्य एवं पाप को पृथक तत्त्वों के रूप में स्थान दिया गया है, यथा- जीवाऽजीव-पुण्य-पापास्रव-संवर निर्जरा-बन्ध-मोक्ष स्तत्त्वम् (२. १)। तत्त्वों की यह गणना आगम परम्परा का अनुसरण है। आचार्य श्री तुलसी जी एवं सम्पादक (आचार्य श्री) महाप्रज्ञ जी ने पुण्य एवं पाप को पृथक महत्त्व देकर सूझबूझ पूर्ण कार्य किया है। क्योंकि पुण्य-पाप का अपना महत्त्व है। पुण्य पाप को आस्रव में सम्मिलित करने से ये दोनों हेय की श्रेणी में आ जाते हैं, जब कि पुण्य को पाप की भांति हेय नहीं माना जा सकता। पुण्य एवं पाप परस्पर विरोधी हैं। पुण्य (या सत्प्रवृत्ति) को पाप की भांति एकान्त या त्याज्य मान लिया जाय तो साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है। पुण्य को पाप के समान त्याज्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुण्यकर्म तो सम्यग्दर्शन एवं केवलज्ञान में भी सहायक है, जबकि पाप उसमें बाधक है। आगम में सर्वत्र पाप को ही त्याज्य बताया गया है, पुण्य को नहीं।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार जब तक पापकर्म की प्रकृतियों का चतु:स्थानिक अनुभाग घटकर द्विस्थानिक नहीं होता और पुण्यप्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतु:स्थानिक नहीं होता तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। इसी प्रकार पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग जबतक उत्कृष्ट नहीं होता तब तक केवल ज्ञान प्रकट नहीं होता है। इस तरह सम्यग्दर्शन एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति में पुण्य के अनुभाग का बढ़ना एवं पाप प्रकृति के अनुभाग का घटना आवश्यक है। इस दृष्टि से पाप एवं पुण्य एक दूसरे के विरोधी सिद्ध होते हैं। अत: पाप एवं पुण्य का पृथक् कथन आगम एवं कर्म की दृष्टि से उचित ही है। (विशेष विवरण हेतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रष्टव्य-'जिनवाणी', सितम्बर-अक्टूबर १९९९ पृष्ठ १८-१९ पर लेखक का लेख-'उमास्वातिकृत प्रशमरतिप्रकरण और उसकी तत्त्वार्थसूत्र से तुलना'।)

२. पुण्य और पाप के सम्बन्ध में 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में विशेष प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि 'पुण्य' धर्म का अविनाभावी है-'तच्च धर्माविनाभावि' (४.१३) अर्थात् धर्म के बिना पुण्य नहीं होता है। स्वोपज्ञवृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि पुण्य कर्म का बन्ध एक मात्र सत्प्रवृत्ति के द्वारा होता है और सत्प्रवृत्ति मोक्ष का उपाय होने से अवश्य धर्म है। अत: जिस प्रकार धान्य के बिना तुष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार धर्म के बिना पुण्य नहीं होता। यहाँ पर प्रश्न खड़ा होता है कि मिथ्यात्वी जीव धर्म की अराधना नहीं कर सकता है तब वह पुण्य का बन्ध कैसे करेगा? जैन सिद्धान्त-दीपिका में आचार्य श्री तुलसी ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि मिथ्यात्वी भी मोक्षमार्ग के देश-आराधक होते हैं। यदि ऐसा न हो तो उनके निर्जराधर्म ही न हो एवं वे कभी सम्यक्त्वी ही न बन सकेंगे। आचार्यश्री ने शुभ कर्म को पुण्य (शुभ कर्म पुण्यम् ४.१२) कहते हुए जिस निमित्त से पुण्य का बन्ध होता है उसे भी उपचार से पुण्य कहा है। इस प्रकार उपचार से अन्न, पान, लयन, शयन, वस्त्र, मन, वचन, शरीर एवं नमस्कार के आधार पर ९ पुण्य होता हैं। ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों को पाप कहा गया है। उपचार से पाप के हेतु प्राणातिपात आदि को भी पाप माना गया है, जिसके १८ भेद प्रसिद्ध हैं।

३. जैन सिद्धान्त-दीपिका के चतुर्थ प्रकाश में ही शुभ एवं अशुभ योग की चर्चा करते हुए अचार्यश्री ने शुभयोग को सत्प्रवृत्ति एवं अशुभयोग को असत्प्रवृत्ति कहा है। शुभ एवं अशुभयोग से क्रमश: शुभकर्म-पुद्गलों एवं अशुभ कर्मपुद्गलों का आस्रव होता है। इस सामान्य नियम का उल्लेख करने के साथ ही एक विशेष उल्लेखनीय सूत्र उपनिबद्ध किया गया है-

यत्र शुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा (दीपिका ४.२७)

अर्थात् जहाँ शुभयोग होता है वहाँ नियम से निर्जरा होती है। आचार्यश्री ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शुभयोग कर्मबन्ध का हेतु होने से आस्रव के अन्तर्गत परिगणित है, किन्तु वह नियम से अशुभ कर्मों को तोड़ने वाला है, इसलिए निर्जरा का कारण भी है। नाना द्रव्यों से निर्मित औषधि जिस प्रकार रोग का शोषण एवं शरीर का पोषण- दोनों कार्यों को सम्पन्न करती है उसी प्रकार शुभयोग से पुण्यकर्म का बन्ध एवं अशुभकर्मों का क्षय दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं। इस तथ्य की पुष्टि में आचार्यश्री ने उत्तराध्ययन सूत्र से एक उद्धरण भी दिया है, यथा- वंदणा एवं भंते! जीवे किं जणयइ? गोयमा! वंदणएणं नीयागोयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ, इत्यादि (उत्तराध्ययनसूत्र (२५. १०)। भगवान महावीर से प्रश्न किया गया कि हे भगवन्! वन्दना करने से क्या लाभ होता है? भगवान ने उत्तर दिया- गौतम!। वन्दना करने से नीचगोत्र कर्म का क्षय और उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि शुभयोग के समय अशुभयोग का निरोध होता है। अतः अपेक्षा से संवरधर्म भी पाया जाता है।

४. मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए 'जैन सिद्धान्त-दीपिका' में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के साथ सम्यक् तप को भी पृथक से स्थान दिया गया है, यथा- सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र तपांसि मोक्षमार्गः (६. १) तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति द्वारा तप का चारित्र में ही समावेश कर लिया गया है। किन्तु चारित्र से तप का पृथक् कथन आगमों में भी प्राप्त होता है, यथा-

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।

यस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसीहिं।। (उत्तरा. २८. २)

जैनागमों में तप एवं चारित्र के भेद अलग से प्राप्त होते हैं तथा दोनों का अपना महत्त्व है। चारित्र जहाँ संयम या संवर की प्रधानता रखता है वहाँ तप में निर्जरा की प्रधानता है। अतः 'तप' को मोक्षमार्ग में पृथक से स्थान दिया जाना उचित ही है।

५. समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष का लक्षण तो जैनदर्शन में प्रसिद्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः। (तत्त्वार्थसूत्र १०. १)। जैन सिद्धान्त-दीपिका में कर्मक्षय के साथ आत्मा का स्वरूप में अवस्थान मोक्ष कहा गया है, यथा- 'कृत्स्न कर्म क्षयादात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः। (५. १९)। इससे यह भी ध्वनित होता है कि समस्त कर्मों का क्षय होने के पश्चात् आत्मा की सत्ता बनी रहती है तथा वह अपने ज्ञान-दर्शन स्वरूप में अवस्थित रहती है। आचार्य श्री ने सूत्र की वृत्ति में यह भी स्पष्ट किया है कि समस्त कर्मों का क्षय होने के पश्चात् पुनः कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

६. षड्द्रव्यों में जीव द्रव्य का निरूपण करते हुए आचार्य श्री तुलसी ने तृतीय प्रकाश के पञ्चम सूत्र की वृत्ति में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों में चेतना की सिद्धि के लिए हेतु प्रस्तुत किए हैं, जो उल्लेखनीय हैं। पृथ्वी में चेतना सिद्ध करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य और तिर्यन्च जीवों के घावों में सजातीय मासांकुर होते हैं, वैसे ही पृथ्वी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में खोदी हुई खानों में सजातीय पृथ्वी के अंकुर उत्पन्न होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी सजीव है- समान जातीयांकुरोत्पादात्। जल में जीवन की सिद्धि करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य और तिर्यंच गर्भावस्था के प्रारम्भ में तरल होते हैं वैसे ही जल तरल है। अत: वह जब तक किसी विरोधी वस्तु से उपहत नहीं होता तब तक सजीव है- शास्त्रानुपहतद्रवत्वात् । ईंधन आदि आहार के द्वारा अग्नि बढ़ती है, इसलिए अग्नि सजीव है- आहारेणवृद्धिदर्शनात्। वायु बिना किसी प्रेरणा के ही अनियमित रूप से घूमती है, अत: वह सजीव है- अपराप्रेरितत्वे तिर्यगनियमित- गतिमत्त्वात्। वनस्पति का छेदन आदि करने से उसे ग्लानि आदि का अनुभव होता है। अत: वनस्पति सजीव है- छेदादिभिर्ग्लानिदर्शनात्।' वनस्पति की सजीवता की सिद्धि आचारांगसूत्र में मनुष्य के साथ तुलना करते हुए विस्तार से की गई है। (द्रष्टव्य, आचारांग १. १५)

७.जैन सिद्धान्त-दीपिका में भी तत्त्वार्थसूत्र की भांति धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव-इन पाँच अस्तिकाय द्रव्यों का कथन करने के पश्चात् काल को औपचारिक रूप से द्रव्य माना गया है। आचार्यश्री ने सभी द्रव्यों के संक्षिप्त लक्षण दिए हैं, जो तत्त्वार्थसूत्र से पूर्णत: साम्य रखते हैं।

(i) **धर्मद्रव्य-** गतिसहायो धर्म: (१. ४)

जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय है।

(ii) **अधर्मद्रव्य-** स्थितिसहायोऽधर्म:। (१. ५)

जीव और पुद्गलों के ठहरने में उदासीन भाव से अनन्य सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय है।

(iii) **आकाशद्रव्य-** अवगाहलक्षण आकाश: (१. ६)

सभी द्रव्यों को स्थान देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है। यहाँ पर वृत्ति में आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि दिशाएँ भी आकाश स्वरूप ही हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं।

(iv) **पुद्गलद्रव्य-** स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गल: (१. १४)

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योत प्रभावांश्च। (१. १५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v) **जीव-** उपयोग लक्षणो जीवः। उपयोग लक्षण वाला जीव होता है। चेतना के व्यापार को उपयोग कहते हैं।

(vi) **काल-** कालः समयादिः। समय, आवलिका, मुहूर्त आदि को काल कहते हैं। यह काल वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि के द्वारा जाना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र की सरणि का उपर्युक्त लक्षणों में पूरा उपयोग किया गया है, किन्तु जैन सिद्धान्त-दीपिका में परमाणु आदि के लक्षण भी दिए गए हैं, यथा-

परमाणु- अविभाज्यः परमाणुः। (१.१७)- अविभाज्य पुद्गल ही परमाणु है।

स्कन्ध- तदेकी भावः स्कन्धः। (१. १८)- परमाणुओं का एकीभाव स्कन्ध है।

देश- बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः। (१. ३०)- वस्तु का बुद्धि कल्पित अंश देश है।

प्रदेश- निरंशः प्रदेशः। (१. ३१)- वस्तु के निरंश अंश को प्रदेश कहते हैं।

८. जैन सिद्धान्त-दीपिका में सभी द्रव्यों के सामान्य और विशेष गुणों को योजित किया गया है। सामान्य गुण हैं- (१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) प्रदेशत्व (६) अगुरूलघुत्व। विशेष गुण १६ प्रतिपादित हैं- (१) गतिहेतुत्व (२) स्थितिहेतुत्व (३) अवगाह हेतुत्व (४) वर्तना हेतुत्व (५) स्पर्श (६) रस (७) गन्ध (८) वर्ण (९) ज्ञान (१०) दर्शन (११) सुख (१२) वीर्य (१३) चेतनत्व (१४) अचेतनत्व (१५) मूर्तत्व (१६) अमूर्तत्व। इनमें से जीव और पुद्गल में ६-६ गुण तथा अन्य द्रव्यों में तीन-तीन गुण पाए जाते हैं, यथा-

धर्मद्रव्य- गतिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व = ३ गुण

अधर्मद्रव्य- स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व = ३ गुण

आकाशद्रव्य- अवगाहहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व = ३ गुण

काल- वर्तना हेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व = ३ गुण

पुद्गल- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्तत्व = ६ गुण

जीव- ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व = ६ गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह है कि आचार्य श्री तुलसी जी ने ईसवी सन् की २० वीं शती में जैन सिद्धान्त-दीपिका का निर्माण करके तत्त्वार्थसूत्र का एक पूरक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, तत्त्वार्थसूत्र के व्याकरण ग्रन्थ, आगम एवं अन्य आचार्यों के मन्तव्य आधार बने हैं। जैन सिद्धान्त-दीपिका में किन-किन ग्रन्थों का आधार रहा है, पृथक से शोधलेख का विषय है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें षड्द्रव्यों, नवतत्त्वों एवं जैनाचार का व्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है, साथ ही सूत्रशैली में जैन तत्त्वज्ञान को प्रस्तुत करने की परम्परा पुनर्जीवित हुई है। यह ग्रन्थ अपनी प्रयोजनवत्ता लिए हुए है। इसमें शताधिक पारिभाषिक शब्दों के लक्षण भी हैं तो सरलता एवं सूक्ष्मेक्षिका का आदि से अन्त तक निर्वाह भी है। साधारण संस्कृतज्ञ भी इसके हार्द को आसानी से हृदयंगम कर सकते हैं। वृत्तिकार ने युगीन सन्दर्भों को भी ध्यान में रखा है। तेरापंथ समाज में इसका पठन-पाठन प्रचलित है। एकाध स्थलों पर तेरापंथ के मूल प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का नाम आने से यह कृति तेरापंथ सम्प्रदाय तक सीमित रह गई, अन्यथा यह जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों और जैन दर्शन के सभी जिज्ञासुओं के द्वारा अध्येतव्य है। जैन सिद्धान्त-दीपिका में ज्ञान और श्रेय का विशद निरूपण हुआ है, जो इसकी महत्ता और उपयोगिता को स्पष्ट करता है।

❋

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

भारतीय व्याकरण शास्त्र की परम्परा

डॉ० अतुल कुमार प्रसाद सिंह*

आमजन में बोली जानेवाली बोलियों में जब साहित्य निबद्ध होने लगता है तब वह बोली भाषा बन जाती है। कालान्तर में आमजन की बोलियां तो प्रवाह में अपने स्वरूप में परिवर्तन करती आगे बढ़ जाती हैं लेकिन साहित्य में प्रयुक्त भाषा का कोई प्रवाह नहीं बन पाता बल्कि उसका रूप स्थिर हो जाता है। इन साहित्यिक भाषाओं के ज्ञान के लिए, उसके अर्थ, मूल, पद आदि के स्पष्टीकरण के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक होता है, जो साहित्य, भाषा व जनबोली के मिले-जुले तात्कालिक प्रयोगों के आधार पर उसके रूप को स्पष्ट करता है। व्याकरण भाषा के प्रवाह को नियंत्रित करता है तथा उसमें उत्पन्न होनेवाले दोषों का निवारण कर भाषा के शुद्ध स्वरूप की रक्षा करता है।

प्रारम्भिक व्याकरण

व्याकरणों की परम्परा सनातन काल से ही है, ऐसी परम्परागत मान्यता है। परम्परा के अनुसार तो ब्रह्मा को वेदों की तरह ही व्याकरण का भी प्रवर्त्तक माना गया है। महाभाष्य में पतंजलि ने इस परम्परा का समर्थन करते हुए कहा है-"ब्रह्म बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाये, भारद्वाज ऋषिभ्य: ऋषयो ब्राह्मणेभ्य:।" इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर पाणिनि तक अनेक मुनियों ने व्याकरण की रचना की है।

एक मान्यता के अनुसार पाणिनि से पूर्ववर्ती पचासी वैयाकरण हुए हैं।[१] वोपदेव ने भी आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों का उल्लेख किया है जिसमें पाणिनि भी एक हैं।[२] पाणिनि ने स्वयं अष्टाध्यायी में अपने पूर्ववर्ती दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों के मत में इनकी संख्या २६ है। इनमें १६ अनुल्लिखित आचार्यों की गणना की जाती है। इन आचार्यों का पाणिनि ने नाम से उल्लेख न कर प्राचार्य, उदीचाम, आचार्याणाम तथा एकेषाम पदों से उल्लेख किया है। इसके अलावा कुछ अन्य वैयाकरणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[३] चूँकि व्याकरण का मुख्य अर्थ सूत्रपाठ लिया जाता है इसलिए सूत्रपाठ के सहायक अंग के रूप में

* जनरल फेलो, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाणिनि-पूर्व काल के धातुपाठ प्रवक्ता[४] के रूप में इन्द्र, वायु, भागुरि, काशकृत्स्न, शाकटायन तथा आपिशलि के नाम आते हैं। पाणिनि-पूर्व गणपाठ प्रवक्ता[५] के रूप में भागुरि, शन्तनु, काशकृत्स्न तथा आपिशलि के नाम हैं। उणादि पाठ प्रवक्ता[६] के रूप में शन्तनु तथा आपिशलि, लिङ्गानुशासनकार[७] के रूप में शन्तनु तथा व्याडि व परिभाषाकार[८] के रूप में काशकृत्स्न तथा व्याडि का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि व्याकरण में १० वैयाकरणों का उल्लेख नाम के साथ आया है ये हैं- काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मन, भारद्वाज, शाकल्य, सेनक, स्फोटयान, शाकटायन व आपिशल। इनमें से इन्द्र, भागुरि व चारायण के कुछ सूत्र अलग से उपलब्ध होते हैं।

उत्तर पाणिनि संस्कृत व्याकरण

पाणिनि के परवर्ती काल में व्याकरण की सरलता, स्पष्टता तथा भाषा के प्रवाह में आए नवीन शब्दों का व्याकरण में स्थान देने के लिए यद्यपि अष्टाध्यायी पर वार्तिक[९], भाष्य[१०] एवं वृत्तिग्रंथ[११] लिखे गये, परन्तु कुछ वैयाकरणों ने स्वतंत्र रूप में व्याकरण सम्प्रदायों की भी रचना की। परवर्ती चान्द्र तथा सरस्वती कण्ठाभरण के अतिरिक्त अन्य व्याकरण ग्रंथ वैदिक प्रक्रिया से अलग प्रवृत्ति रखते हैं। वैदिकी प्रक्रिया के अभाव के कारण कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र तथा शाकटायन व्याकरणों को वेदाङ्ग नहीं कहा जाता है।[१२]

पाणिनि शैली के संस्कृत व्याकरण

१. चान्द्र व्याकरण[१३]

ईसा की पांचवीं शती में चन्द्रगोमिन रचित यह व्याकरण केवल लौकिक संस्कृत पर रचा गया प्रतीत होता है। पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने चान्द्र व्याकरण में वैदिक तथा स्वर प्रक्रिया का होना प्रमाणित किया है।[१४] परन्तु स्वर तथा वैदिक प्रकरण संप्रति उपलब्ध नहीं होते।

२. जैनेन्द्र व्याकरण[१५]

ईसा की पांचवीं सदी में जैन सम्प्रदाय के देवनन्दी ने पाणिनीय शैली के आधार पर लौकिक संस्कृत के लिए व्याकरण की रचना की। जैनेन्द्र व्याकरण का उद्देश्य व्याकरण को संक्षिप्त करना है। इसमें पाणिनि से थोड़ी भिन्न शैली अपनायी गयी है। इसमें ५ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद। महावृत्ति संस्करण में ३,००० सूत्र हैं तथा शब्दार्णवचन्द्रिका संस्करण में ३,७०० सूत्र।[१६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. शाकटायन व्याकरण

ईसा की नवीं शताब्दी में रचित पाल्यकीर्ति शाकटायन शब्दानुशासन में लगभग ३,२०० सूत्र हैं। इसमें चार अध्याय हैं। इसमें पाणिनि से थोड़ी भिन्न शैली अपनायी गयी है, परन्तु यह पूर्ण प्रक्रिया ग्रंथ नहीं है। इसका प्रकरण क्रम- संज्ञा, संधि, शब्दरूप, स्त्रीप्रत्यय, परस्मैपद-आत्मनेपद प्रकरण, समास, तद्धित, आख्यात, विकरण तथा कृत प्रत्यय है। शाकटायन वर्णोपदेश में पाणिनीय १४ सूत्रों के स्थान पर १३ सूत्र प्राप्त होते हैं। ण् अनुबंध की पुनरुक्ति का अभाव है- ह् य व र ल ञ तथा कं् का भी पाठ प्राप्त होता है।[१७] पाणिनीय सवर्ण के स्थान पर शाकटायन की स्व संज्ञा प्राप्त होती है।[१८]

४. सरस्वती कण्ठाभरण[१९]

११वीं शताब्दी में भोजदेव ने सरस्वती कण्ठाभरण नामक व्याकरण की रचना की। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में ४-४ पाद हैं। कुल सूत्र लगभग ६,४११ हैं। सरस्वती कण्ठाभरण के प्रारम्भिक ७ अध्यायों में लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान है, आठवें में स्वर प्रकरण तथा वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान।

पाणिनियेतर प्रक्रिया ग्रंथ

पाणिनियेतर वैयाकरणों द्वारा शैली के माध्यम से रचे गये व्याकरणों से शब्दसिद्धि की सरलता के जानकार पाणिनि अनुगामी वैयाकरणों ने पाणिनीय सूत्रों को प्रक्रिया शैली में संयोजित करने का प्रयास किया।[२०] परन्तु इन पाणिनीय प्रक्रिया ग्रंथों में भी पाणिनीय प्रकरण क्रम को स्मरण रखने की समस्या बनी रही। स्वतंत्र रूप से प्रक्रिया शैली में रचा गया व्याकरण ग्रंथ में सर्वप्रथम है- कातन्त्र व्याकरण।

कातन्त्र व्याकरण

ईसा की प्रथम शती में शर्ववर्मन् रचित यह प्रक्रिया शैली का प्रथम ग्रंथ है जो कातन्त्र, कौमार या कालाप नामों से जाना जाता है। कातन्त्र का प्रकरण क्रम इस प्रकार है।

क) सन्धि - संज्ञा, स्वरसन्धि, प्रकृतिभाव, व्यंजन सन्धि, विसर्ग सन्धि।

ख) नाम चतुष्टय - स्वरान्तपाद, व्यंजनान्तपाद, सखिपाद, युष्मत्पाद, कारकपाद, समासपाद, तद्धितपाद, स्त्रीप्रत्ययान्तपाद।

ग) आख्यात - परस्मैपाद, प्रत्ययपाद, इडागमपाद, घुट्पाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घ) कृत् - सिद्धिपाद, चक्रपाद, कर्मणिपाद, क्वन्सुपाद (उणदिपाठ), धातुसम्बद्धपाद।

इसका तद्धित भाग पर्यन्त ही शर्ववमन् कृत माना जाता है। कृत प्रकरण का कर्त्ता कात्यायन को माना जाता है।[२१] इसमें १,५०० सूत्र हैं तथा सम्पूर्ण व संक्षिप्त हैं। संक्षिप्तता का कारण राजा शलिवाहन के लिए शीघ्रातिशीघ्र व्याकरणबोध कराना कहा गया है।

संक्षिप्तसार[२२]

संक्षिप्तसार प्रक्रिया ग्रंथ की रचना क्रमदीश्वर द्वारा की गयी है। जुमरनन्दी द्वारा संशोधित होने के कारण इसे जौमर व्याकरण भी कहा जाता है। संक्षिप्तसार में 'णत्व' आदि समकार्यविषयक सूत्रों को एक साथ रखा गया है। संक्षिप्तसार के प्रथम ७ पाद लौकिक संस्कृत तथा अष्टम पाद प्राकृत भाषा के हैं।

सिद्धहेमशब्दानुशासन[२३]

११वीं शती में जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही भाषाओं के लिए हेमशब्दानुशासन की रचना की। इसके आठ अध्यायों में से सात संस्कृत के लिए तथा आठवां अध्याय प्राकृत भाषा के लिए है। संस्कृत व्याकरण के लिए ३,५६६ सूत्र तथा प्राकृत भाषा के लिए १,११९ सूत्र हैं। कुल ४,६८५ सूत्र हैं।

मलयगिरि शब्दानुशासन[२४]

१२वीं शताब्दी में जैन सम्प्रदाय के मलयगिरि ने शाकटायन व हेमचन्द्र से प्रभावित शब्दानुशासन की रचना की। इस प्रक्रिया ग्रंथ का प्रकरण क्रम हेम व्याकरण के समान है। अभी तक प्रकाशित भाग की सूत्र संख्या २,२०० के लगभग है। मान्यतानुसार मलयगिरि ने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन की भी रचना की थी, परन्तु वर्तमान में ये उपलब्ध नहीं हैं।[२५]

वोपदेव व्याकरण

वोपदेव का मुग्धबोध व्याकरण अपने पूर्ववर्ती सभी व्याकरण ग्रंथों से संक्षिप्ततम है। प्रक्रिया की दृष्टि से प्रकरण योजना है। प्रकरण क्रम इस प्रकार हैं- संज्ञा, सन्धि, स्याद्यन्त (नामरूप) अजन्त, हसन्त, व्य (अव्यय), स्त्रीत्य (स्त्री प्रत्यय), भवादि, अदादि आदि।[२६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाणिनीय प्रक्रिया ग्रंथ

रूपावतार[२७]

बौद्ध धर्मावलम्बी धर्मकीर्ति ने १०वीं शताब्दी में पाणिनीय सूत्रों तथा वार्तिकों को संयुक्त कर उन्हें प्रक्रिया ग्रंथ का रूप दिया। इनमें २,६६४ सूत्र संयोजित हैं। इसमें पूर्वार्द्ध में संज्ञावतार, संध्यावतार, अव्ययावतार, स्त्रीप्रत्ययावतार, कारकावतार, समासावतार तथा तद्धितावतार हैं। उतरार्द्ध में धातुप्रत्यय, पञ्जिका में सार्वधातुक, आर्धधातुक, सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुक, हेतुमण्णिच्, प्रत्ययमाला, सुब्धातुप्रकरण तथा लिङ्विभक्त्यिर्थ प्रकरण हैं। पाणिनीय सूत्रों पर आधारित प्रक्रिया शैली का यह प्रथम ग्रंथ है।

प्रक्रियारत्न

प्रक्रियारत्न के रचयिता का नाम, देश अथवा काल अज्ञात है, सायण की धातुवृत्ति[२८] तथा पुरुषकार[२९] के उल्लेख के आधार पर इस ग्रंथ का अस्तित्व माना जाता है। वोपदेव[३०] ने धनेश्वरकृत प्रक्रियारत्नमणि का उल्लेख किया हैं।

प्राकृत व्याकरण

प्राकृत भाषा के सभी व्याकरण संस्कृत में ही लिखे गये हैं। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में विभिन्न भाषाओं का निरूपण करते हुए प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त बतलाए गये हैं और ३२वें अध्याय में उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।[३१] पर ये सिद्धान्त बहुत ही संक्षिप्त और अस्फुट हैं इसके बाद प्राकृत के कई व्याकरण मिलते हैं जो पूर्णरूपेण प्राकृत के हैं या इनके अंश प्राकृत के विषय में हैं।

प्राकृत लक्षण

प्राकृत लक्षण को पाणिनि रचित व्याकरण भी माना जाता है। डॉ० रिचर्ड पिशल ने भी अपने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' में इस ओर संकेत किया है, पर यह ग्रंथ न तो आजतक उपलब्ध ही हुआ है और न इसके होने का ही कोई प्रमाण है। प्राप्त प्राकृत लक्षण चण्ड रचित है। यह संक्षिप्त रचना है। इसमें मात्र ९९ या १०३ सूत्र हैं। इसमें जिस सामान्य प्राकृत का जो अनुशासन किया गया है वह अशोक की धर्मलिपियों जैसी प्रतीत होती है। इसका रचनाकाल द्वितीय-तृतीय शती हो सकती है।

प्राकृत प्रकाश

चण्ड के पश्चात् प्राकृत वैयाकरणों में वररुचि का नाम आता है। इनका गोत्र नाम कात्यायन था। प्राकृत प्रकाश में कुल ५०९ सूत्र हैं। तुलनात्मक दृष्टि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वररुचि ने चण्ड का अनुसरण किया है। चण्ड द्वारा निरूपित विषयों का विस्तार अवश्य इस ग्रंथ में पाया जाता है। इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा की ध्वनियों में किस प्रकार के ध्वनि परिवर्तन होने से प्राकृत भाषा के शब्द रूप गठित होते हैं, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उपयोगिता की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत अध्येताओं के लिए ग्राह्य है।

प्राकृत सिद्धहेमशब्दानुशासन

इस व्याकरण की चर्चा ऊपर भी की गयी है। 'हेमशब्दानुशासन' का आठवां अध्याय ही प्राकृत से सम्बन्धित है। परन्तु प्राकृत के सभी व्याकरणों में यह सबसे विस्तृत और प्रचलित है। सूत्रों के अतिरिक्त वृत्ति भी स्वयं हेमचन्द्र ने ही लिखी है। इस वृत्ति में सूत्रगत लक्षणों को बड़ी विशदता से उदाहरण देकर समझाया गया है। इसमें चूलिका और अपभ्रंश का अनुशासन हेमचन्द्र का अपना है और प्राकृत के लिए वे 'प्राकृत लक्षण' और 'प्राकृत प्रकाश' से आगे की कड़ी हैं। उन्होंने व्याकरण की परम्परा को अपनाकर भी अनेक नये अनुशासन उपस्थित किये हैं।

त्रिविक्रम का प्राकृत शब्दानुशासन

त्रिविक्रम देव के इस व्याकरण में तीन अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में ४-४ पाद हैं। इसमें कुल १,०३६ सूत्र हैं। इस व्याकरण में विषयक्रम हेमचन्द्र जैसा ही है। इस व्याकरण में देशी शब्दों का वर्गीकरण कर हेम की अपेक्षा एक नयी दिशा की सूचना दी गयी है।

षड्भाषा चन्द्रिका

लक्ष्मीधर ने त्रिविक्रम देव के सूत्रों का प्रकरणानुसारी संकलन कर अपनी नयी वृत्ति लिखी है। इस संकलन का नाम ही 'षड्भाषा चन्द्रिका' है। इस संकलन में 'सिद्धान्त कौमुदी' का क्रम रख गया है। इसकी तुलना भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' से की जाती है।

प्राकृत रूपावतार

त्रिविक्रम देव के सूत्रों को ही 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' के ढंग पर संकलित कर सिंहराज ने १५वीं शताब्दी में 'प्राकृत रूपावतार' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत सर्वस्व

मार्कण्डेय का 'प्राकृत सर्वस्व' एक महत्त्वपूर्ण व्याकरण है। इसका रचनाकाल भी १५वीं सदी है। मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची ये चार भेद किये हैं। भाषा में महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी, विभाषा में शकारी, चाण्डाली, शबरी, आभीरी और ढक्की, अपभ्रंश के नागर, ब्राचड और उपनागर एवं पैशाची के कैकेयी, शौरसेनी और पाञ्चाली आदि भेद किये हैं। हेमचन्द्र ने जहां पश्चिमी प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों का अनुशासन किया है वहीं मार्कण्डेय ने पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन प्रदर्शित किया है। इन व्याकरणों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के लिए रामतर्कवागीश का प्राकृतकल्पतरु १७वीं सदी, शुभचन्द का शब्दचिन्तामणि, श्रुतसागर का औदार्य चिन्तामणि, अप्पय दीक्षित का प्राकृतमणिदीप (१६वीं सदी), रघुनाथकवि का प्राकृतानन्द १८वीं सदी और देवसुन्दर का प्राकृतयुक्ति भी प्राकृत व्याकरणों की शृंखला में आते हैं।

पालि व्याकरण के शास्त्र

पालि व्याकरणों की रचना इसके साहित्य के बहुत बाद सातवीं शताब्दी के बाद शुरू हुई। लेकिन पालि भाषा के व्याकरणों के बारे में यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह रही है कि इसके व्याकरण पालि भाषा में ही लिखे गये। पालि प्राकृत भाषाओं का ही एक प्राचीनतम रूप है। लेकिन अन्य प्राकृतों के जितने भी व्याकरण लिखे गये उन सबकी भाषा संस्कृत रही है। इस मामले में पालि व्याकरणों का अपना विशेष योगदान है। यद्यपि इन व्याकरणों को भी ठीक से समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान-आवश्यक हो जाता है। पालि व्याकरणों में संस्कृत व्याकरण की बहुत सी संज्ञाएं ली गयी हैं। संस्कृत व्याकरण के इस ऋण को स्वीकारते हुए ही कच्चायन ने 'परसमञ्ञा सूत्र' की रचना की। जिसकी वृत्ति का उद्घोष है - संस्कृत ग्रंथों में घोष, अघोष आदि जो संज्ञाएं हैं, वे प्रयुक्त होने पर यहां भी ग्रहण की जाती हैं। न्यासकार ने इस सूत्र का व्याख्यान दिया है - परेसं समञ्ञा परसमञ्ञा, वेय्याकरणानं समञ्ञा ति अत्थो, परस्मि वा समञ्ञा परसमञ्ञा, सक्कतगन्थे समञ्ञा ति अत्थो। कच्चायनवण्णना में भी इस सूत्र की व्याख्या में संस्कृत वैयाकरणों द्वारा दी गयी संज्ञाओं की स्वीकृति की ओर इंङ्गित किया गया है।[३२]

पालि व्याकरण के सम्प्रदाय

पालि के पांच व्याकरण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। १. बोधिसत्व सम्प्रदाय, २. कच्चायन सम्प्रदाय, ३. सब्बगुणाकर सम्प्रदाय, ४. मोग्गल्लायन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रदाय और ५. सद्नीति सम्प्रदाय। इनमें से बोधिसत्व और सब्बगुणाकर सम्प्रदाय अब उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध सम्प्रदायों में कच्चायन व्याकरण सबसे प्राचीन है। इसके अतिरिक्त अट्ठकथाओं में भी व्याकरण से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों का मानना है कि अतीत में भी पालि में शब्दों की निरुक्ति तथा व्याकरण सम्बन्धी नियमों की 'कच्चायन व्याकरण' से भिन्न परम्परा विद्यमान थी और यह कालान्तर में पालि व्याकरण सम्प्रदायों के अभ्युदय के पश्चात् समाप्त हो गयी।

कच्चायन व्याकरण सम्प्रदाय

जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, 'कच्चायन व्याकरण'- पालि व्याकरणों में प्राचीनतम है। इसका दूसरा नाम कच्चायन गन्ध या सन्धिकप्प भी है। इसका रचनाकाल विभिन्न प्रमाणों से सातवीं शताब्दी या उसके बाद का निश्चित होता है। इस व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं। ये सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरणों के रूप में उपलब्ध हैं[३३] और सबके रचनाकार अलग-अलग बतलाए गये हैं। लेकिन दूसरी ओर सम्पूर्ण प्रकरण के रचयिता के रूप में महाकच्चायन का नाम आता है। इससे ऐसा माना जाता है कि यह एक परम्परा का ग्रंथ है जो बाद में इस परम्परा के प्रमुख आचार्य के नाम पर प्रसिद्ध हो गया। इस व्याकरण को चार कप्पों में विभाजित किया गया है, ये हैं - सन्धिकप्प, नामकप्प, आख्याकप्प और किब्बिधानकप्प। कच्चायन के सूत्रों पर प्रक्रियानुसार लिखा गया ग्रंथ 'रूपसिद्धि' में इसके सात कांडों की चर्चा है।[३४]

'कच्चायन व्याकरण' के आधार पर बाद में कई अन्य ग्रंथों की रचना हुई जिससे इसका एक सम्प्रदाय ही प्रचलित हो गया। ये इस प्रकार हैं -

१. कच्चायनवण्णना - म्यांमार के भिक्षु महाविजितावी ने इस ग्रंथ की रचना की।[३५] यह सत्रहवीं शताब्दी का ग्रंथ सिद्ध होता है। इस ग्रंथ में वृत्ति में आए हुए प्रयोगों की सिद्धि प्रस्तुत की गयी है। पाठ सम्बन्धी विचार भी इसमें प्रस्तुत किये गये हैं।

२. कच्चायन न्यास - आचार्य विमलबुद्धि ने कच्चायन के सूत्रों पर यह न्यास लिखा है। यह कच्चायन की शास्त्रीय व्याख्या है। बारहवीं शताब्दी में बर्मा के आचार्य सद्धम्मजोतिपाल या छपद ने इस पर 'न्यासप्रदीप' नामक टीका और सत्रहवीं शताब्दी में दाठानाग ने 'निरुत्तिसारमञ्जूसा' नामक टीका लिखी।

३. सुत्तनिद्देस - इसके रचयिता बर्मा के आचार्य छपद माने गये हैं। इसका रचनाकाल ११८१ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. सम्बन्धचिन्ता - इसके प्रणेता स्थविर संघरक्खित हैं। यह ग्रंथ गद्य-पद्यमय है।

५. कारिका - यह धम्मसेनापति की कृति है और बर्मा के राजा अनोरत्त के पुत्र के राज्यकाल में लिखी गयी है। इसमें विभिन्न कांडों में ५६८ कारिकाएं हैं।

६. सद्दत्थभेदचिन्ता - यह भी कारिकाओं में प्रस्तुत किया गया ग्रंथ है। इसके रचयिता बर्मा के स्थविर सद्धम्मसिरि हैं और रचनाकाल बारहवीं सदी।

७. रूपसिद्धि - इस ग्रंथ के रचयिता बुद्धप्पिय दीपङ्कर हैं और इनका समय तेरहवीं शताब्दी है। भाषा तथा शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ गंभीर, विस्तृत है और इसमें कच्चायन के सूत्रों को प्रक्रियानुसार भिन्न क्रम में रखा गया है। इसमें सात कांड हैं।

८. बालावतार - इस ग्रंथ में सात अध्याय हैं। यह धम्मकित्ति थेर द्वारा रचित है। १४वीं शताब्दी में लिखा यह ग्रंथ 'कच्चायन व्याकरण' का संक्षिप्त रूप है।

९. सद्दसारत्थजालिनी - इसके रचयिता भदन्त नागित थेर हैं तथा इसका रचनाकाल १४वीं शताब्दी है। इसमें ५१६ कारिकाएं हैं।

१०. कच्चायनभेद - १७८ कारिकाओं वाले इस ग्रंथ की रचना बर्मा के महायस ने १४वीं सदी में की। इस पर 'सारत्थविकासिनी' तथा 'कच्चायनभेद' नामक दो टीकाएं भी हैं।

११. कच्चायनसार - इसे भी महायस की ही कृति माना जाता है। इसमें ७२ कारिकाएं हैं। इसमें सामान्य, आख्यात, कृत, कारक, समास तथा तद्धितनिर्देश वर्णित हैं। गन्धवंस में इसके लेखक का नाम भिक्खु धम्मानंद बताया गया है।

१२. सद्दबिन्दु - इसके रचनाकार बर्मा के राजा क्य्च्वा हैं और इसमें २० कारिकाएं हैं। यह १५वीं शताब्दी का ग्रंथ है।

१३. वाचकोपदेस - महाविजितावी थेर ने ही इसे भी लिखा है। इसमें वाचक को दस प्रकार का बताकर उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ गद्य-पद्य मिश्रित है।

१४. अभिनवचूळनिरुत्ति - कच्चायन सूत्रों के अपवादों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले इस ग्रंथ के प्रणेता सिरिसद्धम्मालङ्कार हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. धातुमञ्जूसा - यह धातुओं का पद्यमय संग्रह है। इसकी रचना सीलवंस ने की है।

मोग्गल्लान व्याकरण सम्प्रदाय

मोग्गल्लान द्वारा रचित पालि व्याकरण और इसे आधार बनाकर लिखे गये अन्य ग्रंथ मोग्गल्लान सम्प्रदाय के कहे जाते हैं। इसमें ८१७ सूत्र हैं और इस पर मोग्गल्लान की ही वृत्ति और पञ्जिका है। इसकी रचना राजा परक्कमभुज के शासनकाल १२वीं शताब्दी में हुई थी।

१. पदसाधन - यह बालावतार की तरह मोग्गल्लान व्याकरण का संक्षेप रूप है और इसके रचयिता मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी थेर हैं।

२. पयोगसिद्धि - यह रूपसिद्धि के तरह का है और इसमें प्रक्रिया के संदर्भ में सूत्र भिन्न क्रम में दिये गये हैं। इसका रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी के लगभग है। इसके प्रणेता वनरतन मेधंकर माने गये हैं।

३. मोग्गाल्लानपञ्जिकाप्रदीप - मोग्गल्लान वृत्ति विवरणपञ्जिका की सिंहली भाषा में प्रस्तुत की गयी व्याख्या है। इसके प्रणेता सिंहल के प्रसिद्ध महास्थविर रहालु वाचिस्सर हैं। इसका रचना काल १४५७ है।

४. धातुपाठ - कच्चायन संप्रदाय की धातुमञ्जूसा की अपेक्षा यह संक्षिप्त तथा गद्य में है। इसके रचयिता अज्ञात हैं।

सद्दनीति

यह पालि व्याकरण के तृतीय सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रंथ है। इसकी रचना बर्मा के अरिमद्दन ने भिक्षु अग्गवंस ने ११५४ में की। विद्वान होने के कारण इन्हें अग्गपंडित की उपाधि दी गयी थी। यह ग्रंथ तीन भागों अथवा मालाओं में विभक्त है - पदमाला, धातुमाला तथा सुत्तमाला।

अन्य ग्रंथ

१. धात्वत्थदीपनी - इसमें सद्दनीति की धातुमाला में वर्णित धातुओं का पद्यबद्ध संकलन है। इसके रचयिता बर्मी भिक्षु हिंगुवल जिनरतन कहे जाते हैं जिनके काल के बारे में पता नहीं है।

पालि व्याकरण के अन्य ग्रंथ

पालि के इन व्याकरण ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ फुटकर ग्रंथों की भी रचना हुई हैं। ये हैं - वच्चवाचक, गंधट्ठि, गन्धाभरण, विभत्त्यत्थप्पकरा, संवण्णनानयदीपनी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्वृति, कारकपुष्पमञ्जरी, सुधीरमुखमंडन तथा नयलक्खणविभावनी। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, सिंहली, बर्मी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी पालि व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथ रचे गये।

इस प्रकार संस्कृत व्याकरणों से शुरू होकर प्राकृत और पालि भाषाओं के लिए अनेक व्याकरणों की रचना हुई।

संदर्भ :

१. ब्रह्मामैशान्मैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम् ।
त्वाष्ट्रमापिशलेश्चेति पाणिनीयमथाष्टकम् ।।

२. इन्द्रश्चान्द्रः काशकृतस्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।।

३. **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**, भाग १, अध्याय ३।

४. वही भाग २, अध्याय २०.१।

५. **वही**, अध्याय २३।

६. **वही**, अध्याय २४।

७. **वही**, अध्याय २५।

८. **वही**, अध्याय २६।

९. **काव्य मीमांसा**, पृष्ठ-५ 'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्तिकत्वम्'

१०. सूत्रार्थो वर्जते स यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।
Quoted from Abhayankar K.V's- *Dictionary of Sanskrit Grammar*, p 273.

११. पदमञ्जरी, पृष्ठ ४, 'सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थः वृत्तिः'

12. Shastri Kalicharana - *Bengal's cant. to Sanskrit Grammar* vol-I, pp 15-16.

१३. क. संपादक - क्षितीशचन्द्र चटर्जी, ख. संपादक - बेचरदास जीवदास दोशी, जोधपुर।

१४. **सं०व्या०शा० का इ०**, भाग १, पृ० ५७२-७४।

१५. भारतीय ज्ञानपीठ, महावृत्ति सहित, काशी।

१६. प्रेमी नाथूराम - भूमिका - **जै०व्या०** पृ. २०।

१७. संपादक- शम्भूनाथ त्रिपाठी (अमोघावृत्ति सहित) भारतीय ज्ञानपीठ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. **शा० व्या०**, पृ. १।

१९. 'स्वः स्थानौतक्ये' वही १.१.६।

२०. **रूपावतार** आदि ग्रंथ।

२१. वृक्षादिवदमी रूढ़ा कृतिका न कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये।। - दुर्गसिंह वृत्ति, **कातन्त्र कृत् प्रकरण**, आदि पर्व पृ० १।

२२. जीवानन्द विद्यासागर द्वारा संस्कृत अनुवाद एवं प्रकाशित - कलकत्ता १९०१।

२३. संपादक, ज्ञानमुनि ख. मुनि हिमांशु न्यायकाव्यतीर्थ।

२४. संपादक, बेचरदास दोशी, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद १९६७।

२५. **सं० व्या० शा० का इ०**, भाग १, पृ० ६२४।

२६. **वोपदेव का संस्कृत व्याकरण को योगदान,** संपादक डॉ० श्रीमती शन्नो ग्रोवर, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली।

२७. **धर्मकीर्ति**, संपादक - रंङ्गाचार्य एम०, भाग १, १९२७, भाग २, १९६०।

२८. **माधवीया धातुवृत्ति**, पृ० ४२।

२९. दैवम् पुरुषकार वार्तिकोपेतम्, पृ० १०२।

३०. **मुग्धबोध**, ७९३ वृत्ति।

३१. **नाट्यशास्त्र**, भरतमुनि, अध्याय १७, पद्य ६-२३.

३२. **कच्चायनव्याकरणं**, सम्पा० लक्ष्मी नारायण तिवारी, भूमिका, पृ० २५।
जेम्स एलनि की *Introduction to Kaccāyana's Grammar* उद्धृत

३४. सन्धि नामं कारकञ्च समासो तद्धितं तथा।
आख्यातं कितकं कण्डा एत्तिमें रूपसिद्धयं।।

३५. कच्चायनवण्णनं पन विजयपुरे येव अभयगिरि पब्बते निसिन्नो महाविजितावी नाम थेरो अकासि, पृ० ४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

पद्म पुराण में राम का कथानक और उसका सांस्कृतिक पक्ष

डॉ० श्वेताजैन*

जैन इतिहास और संस्कृति आगमों से निःसृत होकर पुराण साहित्य में सागर के समान विस्तृत हो गई है। इनमें कथा की रोचकता के साथ गम्भीर भावों को सुगम बनाया गया है। अतः जैन पुराण साहित्य कथा साहित्य या कथानुयोग का एक प्रमुख अंग है। ये पुराण वस्तुतः श्रमण संस्कृति के विश्वकोश हैं, जिनमें विभिन्न कथाओं के माध्यम से धार्मिक जीवन के विविध पक्षों के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलापरक विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा है। श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे ग्रन्थों को चरित या चरित्र तथा दिगम्बर परम्परा में पुराण कहा गया है।

पाँचवीं शती ई० से १०वीं शती ई० के मध्य विभिन्न प्रारम्भिक जैन पुराणों की रचना की गई, जिनमें प्राकृत पउमचरियं, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, महापुराण विशेष उल्लेखनीय हैं। इन पौराणिक महाकाव्यों की कथावस्तु जैन धर्म के शलाकापुरुष-तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि ६३ महापुरुषों के जीवन चरित को लेकर निबद्ध की गई है। भारतीय साहित्य के सदृश जैन-पौराणिक महाकाव्य भी राम और कृष्ण जैसे राष्ट्रीय चरित्रों को लेकर प्रारम्भ होते हैं। भगवान राम पर पद्मपुराण और कृष्ण पर हरिवंश पुराण रचा गया है। सर्वप्रथम विक्रम संवत् ५३० में विमलसूरि द्वारा 'पउमचरियं' नामक ग्रन्थ, तदनन्तर रविषेण द्वारा वि०सं० ७३४ में संस्कृत में 'पद्म पुराण' लिखा गया। इस पुराण में आठवें बलदेव पद्म अर्थात् राम, आठवें वासुदेव लक्ष्मण, आठवें प्रतिवासुदेव रावण तथा उनके परिवारों और सम्बद्ध वंशों का चरित वर्णन है। यह पुराण १२३ पर्वों में विभाजित एक विशालकाय ग्रन्थ है। यह पुराण जैन संस्कृति एवं परम्परा की प्रस्तुति से संपृक्त है। इसमें सभी व्यक्तित्व जिनदेव के उपासक हैं। तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव इन श्लाघनीय पुरुषों के उत्पत्ति, समय आदि जैन मान्यताओं का उल्लेख भी इस पुराण में दृष्टिगत होता है। यहाँ राम को ८वें

*अतिथि अध्यापक, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलदेव के रूप में चित्रित किया गया है न कि भगवान राम के रूप में। इन महापुरुषों से जुड़ी हुई पूर्वजन्म की कथाओं का भी पद्म पुराण में यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। पद्म पुराण के कथानक वाल्मीकि रामायण से बहुत भिन्न हैं, यथा- दशरथ के तीन के स्थान पर चार रानियाँ हैं; सीता का भाई भामण्डल, हनुमान का विवाह, आकाश मार्ग से लंका पहुँचना, लक्ष्मण के द्वारा रावण को मारा जाना आदि नवीन प्रसंग इसमें उद्धृत हैं, यहाँ राम स्वेच्छा से वन में जाते हैं न कि कैकयी द्वारा १४ वर्ष वनवास का आदेश देने पर तथा स्वर्णमृग के स्थान पर सिंहनाद के बहाने रावण सीता-हरण करता है।

पद्मपुराण में कथानक इस प्रकार है -

कथा का प्रारम्भ राजा श्रेणिक की जिज्ञासा से होता है। वे भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी से रामकथा का यथार्थ रूप जानने की इच्छा प्रकट करते हैं। तब गौतम स्वामी फरमाते हैं 'नमिसुव्रतयोर्मध्ये लक्ष्मण: परिकीर्तित:'[१]। २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत एवं २१ वें तीर्थंकर नमिनाथ के मध्यकाल में आठवें बलदेव राम यानी पद्म उत्पन्न हुए। इस कथा का प्रारम्भ मैं विद्याधर लोक, राक्षस वंश, वानर वंश और रावण की वंशावली से करता हूँ। राक्षस वंश के राजा रत्नश्रवा तथा केकसी का पुत्र रावण था। रत्नश्रवा ने सर्वप्रथम जब अपने पुत्र रावण को देखा तब उसे हार पहने हुए शिशु के दस सिर दिखे। इसीलिए उसका दशानन या दशग्रीव नाम रखा गया। रावण ने बहुत शास्त्रों का अध्ययन किया और अनेक विद्याएँ अर्जित की। रावण का विवाह मन्दोदरी आदि ६००० कन्याओं के साथ हुआ। अनन्तवीर्य केवली के उपदेश को सुनकर रावण प्रतिज्ञा लेता है की जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे हाथ नहीं लगाऊँगा। वह इस नियम को अपने जीवन में दृढ़ता पूर्वक पालन करता है, इसलिए सीता को हरण कर उसे अशोक वाटिका में रखता है और उसे प्राप्त करने के लिए वह भीषण युद्ध करता है। किन्तु सीता की इच्छा के विरुद्ध उसके शरीर पर अंगुली भी नहीं लगाता है। बाल्मीकि रामायण में रावण को राक्षस बताया है जबकि रविषेणाचार्य उन्हें राक्षस न बताकर राक्षसवंशी बतलाते हैं।

रावण का वरुण के साथ युद्ध होता है, जिसमें रावण की ओर से पवनंजय भी शामिल होता है। पवनंजय की पत्नी अंजना से हनुमान उत्पन्न होते हैं। हनुमान भी वानर न होकर वानरवंशी थे, ऐसा जैनाचार्य मानते हैं। पुन: वरुण के विरुद्ध होने पर रावण सभी राजाओं को बुलाता है जिसमें हनुमान भी सहयोग के लिए आते हैं। वरुण की पराजय होती है और रावण प्रसन्न होकर अपनी बहन चन्द्रनखा की पुत्री अनंगकुसुमा का विवाह हनुमान के साथ करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इक्ष्वाकु वंश में राजा अनरण्य के दशरथ नामक पुत्र की उत्पत्ति होती है और वह बड़ा होकर अयोध्या नगरी पर शासन करता है। एक दिन रावण को सगर बुद्धि नामक निमित्तज्ञ से विदित होता है कि मेरी मृत्यु में राजा जनक और दशरथ की सन्तान निमित्त बनेगी। तब रावण अपने भाई विभीषण को इन दोनों की हत्या करने के लिए भेजता है। पर विभीषण के आने से पहले ही नारद इन दोनों राजाओं को सचेत कर देता है जिससे ये अपने महलों में अपने शरीर के अनुरूप पुतले छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। विभीषण पुतलों को ही सचमुच का राजा समझ मारकर तथा शिर को लवण समुद्र में फेंककर हमेशा के लिए निश्चिन्त हो जाता है। दशरथ का विवाह कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी और सुप्रभा से होता है। इनसे क्रमशः पद्म यानी राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न पैदा होते हैं।

राजा जनक की विदेहा रानी के एक पुत्री सीता तथा एक पुत्र भामण्डल उत्पन्न होता है। उत्पन्न होते ही प्रसूतिगृह से एक पूर्वभव का वैरी भामण्डल का अपहरण कर लेता है। अपहरण के बाद भागण्डल एक विद्याधर को प्राप्त होता है। उसी के यहाँ उसका लालन-पालन होता है। नारद की कृपा से सीता का चित्रपट देखकर भामण्डल का उसके प्रति अनुराग बढ़ता है। छल से जनक को विद्याधर लोक में बुलाया जाता है। भामण्डल के पिता के आग्रह करने पर भी जनक उसके लिए पुत्री देना स्वीकृत नहीं करता है, क्योंकि वह पहले राजा दशरथ के पुत्र राम को देना स्वीकृत कर चुका था। विद्याधर ने शर्त रखी कि यदि राम यह वज्रावर्त धनुष चढ़ा देंगे तो सीता उन्हें प्राप्त होगी अन्यथा हम अपने पुत्र के लिए बलात् छीन लेंगे। विवश होकर जनक यह शर्त स्वीकार कर लेता है। सीता के स्वयंवर में राम वज्रावर्त धनुष चढ़ा देता है। अतः सीता के साथ राम का विवाह सम्पन्न होता है। यह सुनकर भामण्डल उत्तेजित हो उठता है और सीताहरण की भावना से सेना लेकर अयोध्या की ओर चल देता है। मार्ग में विदग्ध नामक देश के मनोहर नगर पर जब उसकी दृष्टि पड़ती है तब उसे पूर्वभव स्मरण हो जाता है। वह विद्याधर को बताता है कि मैं पूर्वभव में यहाँ का राजा कुण्डलमण्डित था। धर्म के प्रभाव से राजा जनक का पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही मेरा हरण हुआ और आपके यहाँ पलकर मैं पुष्ट हुआ। जिस सीता के व्यामोह से मैं उन्मत्त हो रहा था वह मेरी सगी बहन है। अपने कुविचारों को देखकर भामण्डल को संसार से विरक्ति हो जाती है और वह मुनि बन जाता है।

अयोध्या में राम-सीता का भव्य प्रवेश होता है। सर्वभूतहित मुनिराज के द्वारा दशरथ अपने पूर्वभव को सुनकर विरक्त हो जाते हैं। वे मन्त्रियों के समक्ष अपना निश्चय प्रकट कर राम के राज्याभिषेक की घोषणा करते हैं। समय पाकर भरत की माँ कैकयी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना पूर्व स्वीकृत वर माँगकर भरत के लिए राज्य माँगती है। राजा दशरथ असमंजस में पड़ जाते हैं। वे सोचते हैं कि यह मर्यादा नहीं है कि समर्थ बड़े पुत्र को छोड़कर छोटे पुत्र को राज्यलक्ष्मी दी जाये। अत: वे राम के समक्ष अपनी इस दुरवस्था को प्रकट करते हैं। राम दृढ़ता के साथ कहते हैं कि आप भरत को राज्य देकर अपने सत्यवचन की रक्षा कीजिए, मेरी चिन्ता छोड़िए। पिता के समीप से उठकर अपनी माता के पास जाते हैं और उसे समझाकर तथा सान्त्वना देकर वन को जाने के लिए उद्यत होते हैं। सीता और लक्ष्मण उनके साथ हो जाते हैं।

वन में राम-लक्ष्मण अनेक युद्ध करते हैं - कहीं वज्रकर्ण को सिंहोदर के चन्द्र से बचाते हैं तो कहीं बालखिल्य को म्लेच्छ राजा के कारागृह से उन्मुक्त करते हैं, और कभी नर्तकी का रूप धरकर भरत के विरोध में खड़े हुए राजा अतिवीर्य का मान-मर्दन करते हैं। इसी बीच में लक्ष्मण जगह-जगह राजकन्याओं के साथ विवाह करते हैं। दण्डक वन में वास करते हैं, मुनियों को आहार-दान देते हैं तथा जटायु से सम्पर्क प्राप्त करते हैं।

रावण की बहन चन्द्रनखा तथा खरदूषण का पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्ग की सिद्धि के लिए बारह वर्ष तक बांसों के विस्तृत स्तम्भ में बैठकर तपस्या करता है। उसकी साधना स्वरूप वह खड्ग प्रकट होता है। लक्ष्मण संयोगवश वहाँ पहुँचते हैं और शम्बूक के पहले ही उस खड्ग को हाथ में लेकर उसकी परीक्षा करने के लिए उसी बाँस के स्तम्भ पर चलाते हैं जिसमें शम्बूक बैठा था, फलत: शम्बूक मर जाता है। चन्द्रनखा उसकी मृत्यु देखकर विलाप करने लगती है। खरदूषण लक्ष्मण के साथ युद्ध करता है, खरदूषण के आह्वान पर रावण भी सहायता के लिए आता है। बीच में रावण सीता को देख मोहित होता है और उसे अपहरण करने का उपाय सोचता है। वह विद्याबल से जान लेता है कि लक्ष्मण ने राम को सहायतार्थ बुलाने के लिए सिंहनाद का संकेत बनाया है। अत: रावण प्रपंचपूर्ण सिंहनाद से राम को लक्ष्मण के पास भेज देता है और सीता को अकेली देख हर ले जाता है।

सीता हरण के बाद राम बहुत दु:खी होते हैं। मार्ग में उनकी सुग्रीव के साथ मित्रता होती है। एक साहसगति नाम का विद्याधर सुग्रीव का मायारूप बनाकर सुग्रीव की पत्नी तथा राज्य पर अधिकार करना चाहता है। राम उसे मारते हैं, जिससे सुग्रीव अपनी पत्नी तथा राज्य पाकर राम भक्त हो जाता है।

सुग्रीव की आज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते हैं। रत्नजटी विद्याधर बताता है कि सीता का हरण रावण ने किया है। उस समय रावण बड़ा बलवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था इसलिए सुग्रीव आदि विद्याधर उससे युद्ध करने के लिए पीछे हटते हैं पर उन्हें अनन्तवीर्य केवली के वचन याद आते हैं कि जो इस कोटिशिला को उठायेगा उसी के हाथ से रावण का मरण होगा। लक्ष्मण कोटिशिला उठाकर अपनी परीक्षा देता है। सुग्रीव आदि को विश्वास हो जाता है तब सबके सब वानरवंशी विद्याधर रावण के विरुद्ध राम के पक्ष में खड़े हो जाते हैं। हनुमान राम का संवाद लेकर सीता के पास जाते हैं और सीता का सन्देश लाकर राम के पास आते हैं।

सुग्रीव आदि विद्याधरों की सहायता से समस्त सेना आकाश मार्ग से लंका पहुँचती है। रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता हैं। हनुमान आदि उसकी विद्यासिद्धि में बाधा डालने का प्रयत्न करते हैं पर रावण अपनी दृढ़ता से विचलित नहीं होता है और विद्या सिद्ध करके ही उठता है। इधर विभीषण से रावण का मतभेद होता है फलतः विभीषण रावण का साथ छोड़ राम से आ मिलता है। राम विभीषण को लंका का राजा बनाने का संकल्प करते हैं। दोनों ओर से घमासान युद्ध होता है। लक्ष्मण एक शक्ति से आहत होता है, किन्तु विशल्या के स्नान जल से वह ठीक हो जाता है। अन्त में रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता है, पर वह प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के हाथ में आ जाता है और लक्ष्मण उसी चक्र से रावण का वध करता है। लक्ष्मण प्रतिवासुदेव का वध कर वासुदेव के रूप में प्रकट होता है।

अयोध्या में राम-लक्ष्मण लौट कर राज्य करने लगते हैं। भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेता है। राम लोकोपवाद से त्रस्त होकर गर्भवती सीता को वन में छुड़वा देते हैं। सीता राजा वज्रजंघ के आश्रय में रहती है। वहीं उसके लवण और अंकुश नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। बड़े होने पर लवण और अंकुश राम-लक्ष्मण से युद्ध करते हैं। अन्त में नारद के निवेदन पर पिता-पुत्रों में मिलाप होता है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषणादि के कहने पर राम सीता को बुलाते हैं, सीता अग्निपरीक्षा देती है और उसके बाद साध्वी बन जाती है। एक दिन दो देव राम और लक्ष्मण का स्नेह परखने के लिए आते हैं। वे झूठ-मूठ ही लक्ष्मण से कहते हैं कि राम का देहान्त हो गया। उनकी बात सुनते ही लक्ष्मण की मृत्यु हो जाती है। भाई के स्नेह से विवश हो राम छ मास तक लक्ष्मण का शव लिये फिरते हैं। अन्त में कृतान्तवक्त्र सेनापति का जीव जो देव हुआ था, उसकी चेष्टा से वस्तुस्थिति समझ लक्ष्मण की अन्त्येष्टि करते हैं और अन्त में राम विरक्त हो तपश्चर्या कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जैन साहित्य में राम कथा की दो धाराएँ उपलब्ध हैं। प्रथम धारा में पूर्वोक्त कथा है जो कि पद्म पुराण में है। दूसरी धारा ९वीं, १०वीं शती ई० में जन्में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण की है। उत्तरपुराण के ६७वें और ६९वें पर्व में ११६७ श्लोकों में आठवें बलदेव और वासुदेव के रूप में राम-लक्ष्मण का वर्णन किया गया है। यह वर्णन 'पद्म पुराण' के वर्णन से भिन्न है। इसमें खास बात यह है कि सीता को जनक की पुत्री न मानकर रावण और मन्दोदरी की पुत्री माना गया है। यह न केवल गुणभद्र का मत था किन्तु तिब्बती रामायण, विष्णु पुराण, महाभागवत पुराण, काश्मीरी रामायण आदि अन्य ग्रन्थों में भी वैसा ही उल्लेख है। अत: सम्भवत: रामकथा का यह दूसरा रूप गुणभद्र के समय में पर्याप्त प्रचार पा चुका होगा और उन्हें अपनी गुरु परम्परा से यही मत प्राप्त हुआ होगा। इसलिए आचार्य परम्परा के अनुसार उन्होंने इसी का उल्लेख किया है।

गुणभद्र के अनुसार उत्तर पुराण में कथानक इस प्रकार है - वाराणसी के राजा दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं। राम सुबाला के गर्भ से, लक्ष्मण कैकयी के गर्भ से और बाद में जब दशरथ अपनी राजधानी साकेत में स्थापित करते हैं तब भरत और शत्रुघ्न भी किसी रानी के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। यहाँ भरत और शत्रुघ्न की माता का नाम नहीं दिया गया है। दशानन विनमि विद्याधर वंश के पुलस्त्य का पुत्र है। किसी दिन वह अमितवेग की पुत्री मणिमति को तपस्या करते देखता है और उस पर आसक्त होकर उसकी साधना में विघ्न डालने का प्रयत्न करता है। मणिमति निदान करती है कि मैं उसकी पुत्री होकर उसे मारूंगी। मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ में आती है। उसके जन्म के बाद ज्योतिषी रावण से कहते हैं कि यह पुत्री आपका नाश करेगी। अत: रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कहीं छोड़ दे। कन्या को एक सन्दूक में रखकर मारीच उसे मिथिला देश में गाड़ आता है। हल की नोंक से उलझ जाने के कारण वह मंजूषा दिखाई पड़ती है और लोगों के द्वारा जनक के पास पहुँचाई जाती है। जनक मंजूषा को खोलकर कन्या को देखते हैं और उसका सीता नाम रखकर उसे पुत्री की तरह पालते हैं। बहुत समय बाद जनक अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को बुलाते हैं। यज्ञ के समाप्त होने पर राम और सीता का विवाह होता है, इसके बाद राम सात अन्य कुमारियों से विवाह करते हैं और लक्ष्मण पृथ्वी, देवी आदि १६ राजकन्याओं से। दोनों दशरथ की आज्ञा लेकर वाराणसी में रहने लगते हैं। इस कथानक में राम को १४ वर्ष का वनवास नहीं दिया गया है।

नारद से सीता के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर रावण हरने का संकल्प करता है। एक बार राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में विहार करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। तब मारीच स्वर्णमृग का रूप धारण कर राम को दूर ले जाता है। इतने में रावण राम का रूप धारण करके सीता से कहता है कि मैंने स्वर्णभूत महल भेजा है और उनको पालकी पर चढ़ने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव में पुष्पक विमान है, जो सीता को लंका ले जाता है। रावण सीता का स्पर्श नहीं करता है क्योंकि पतिव्रता के स्पर्श से उसकी आकाशगामिनी विद्या नष्ट हो जाती ।

दशरथ को स्वप्न द्वारा मालूम हुआ कि रावण ने सीता का हरण किया है और वह राम के पास यह समाचार भेजते हैं। दूसरी ओर राम के पास सुग्रीव और हनुमान बालि के विरुद्ध सहायता माँगने के लिए पहुँचते हैं। हनुमान लंका जाते हैं और सीता को सान्त्वना देकर लौटते हैं। यहाँ लंकादहन का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके बाद लक्ष्मण द्वारा बालि का वध किया जाता है और सुग्रीव अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त करता है। अब वानरों की सेना राम की सेना के साथ लंका की ओर प्रस्थान करती है। अन्त में लक्ष्मण चक्र से रावण का शिर काटते हैं। इसके बाद लक्ष्मण दिग्विजय करके वासुदेव के रूप में प्रकट होते हैं। सीता के आठ पुत्र होते हैं। इसमें सीता त्याग का उल्लेख नहीं मिलता है। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से मरकर रावण-वध के कारण नरक जाते हैं। राम, लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वी सुन्दर को राज्य पद पर और सीता के पुत्र अजितंजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके दीक्षा लेते हैं और मुक्ति पाते हैं। सीता भी अनेक रानियों के साथ दीक्षा लेती है और अच्युत स्वर्ण में जाती है। उत्तरपुराण की यह रामकथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं है। इस प्रकार पद्म पुराण के कथानक की विभिन्नता और उसके पीछे रही हुई कारणता को प्रकाश में लाना शोध का विषय है।

पद्म पुराण में राम की कथा के साथ ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी अंकित हैं जो इस पुराण की वर्तमान समय में उपयोगिता सिद्ध करते हैं। यथा -

रविषेणाचार्य जगत्-प्रसिद्ध चार महावंश का वर्णन करते हुए इतिहासवेत्ताओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूचना प्रेषित करते हैं -

'इक्ष्वाकुः प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः ऋषिवंशो द्वितीयस्तु शशाङ्ककरनिर्मलः।

विद्याभृतां तृतीयस्तु वंशोऽत्यन्तमनोहरः, हरिवंशो जगत्ख्यातश्चतुर्थः परिकीर्तितः।।''[२]

इस लोक में आभूषणस्वरूप पहला इक्ष्वाकु वंश है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट है। दूसरा ऋषिवंश अथवा चन्द्रवंश है जो चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा विद्याधरों का वंश है जो अत्यन्त मनोहर है और चौथा हरिवंश है, जो संसार में प्रसिद्ध कहा गया है। इक्ष्वाकुवंश में भगवान ऋषभदेव उत्पन्न हुए और उनके पुत्र भरत के अर्ककीर्ति महाप्रतापी पुत्र हुआ। अर्क सूर्य का पर्याय है, इसलिए इनका वंश सूर्यवंश कहलाने लगा। भगवान ऋषभदेव की दूसरी रानी से बाहुबली नामक पुत्र हुआ जिसका पुत्र सोमयश था। सोम चन्द्रमा को कहते हैं, उसी से सोमवंश अथवा चन्द्रवंश की परम्परा चली। इसी प्रकार अन्य वंश भी प्रसिद्ध हुए किन्तु यहाँ संक्षेप में ही कथन कर रही हूँ। ब्राह्मण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी एक ऐतिहासिक घटना इस पुराण में उपलब्ध है।

समाज में स्त्रियों को वर चुनने की स्वतन्त्रता थी। इसलिए उस काल में स्त्रियों के लिए ही स्वयंवर होते थे, पुरुषों के लिए नहीं। उस समय बाल विवाह नहीं होते थे। किन्तु बहु-विवाह का प्रचलन था। 'केकया रेजे कलानां पारमागता'[३] अर्थात् कैकयी विभिन्न कलाओं में निष्णात थी, यह तथ्य उस समय की स्त्री-शिक्षा एवं कलाओं के बारे में जानकारी देता है। राजा आदि सामान्य जन का ज्योतिष विद्या एवं निमित्त ज्ञान में विश्वास था। तत्कालीन लोगों के आचार-विचार को रेखांकित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-"शरन्निशाकरश्वेतवृत्तैर्मुक्ताफलोपमै: आनन्ददानच तुरैर्गुणवद्भि: प्रसाधित:"[४] अर्थात् शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेतवृत्त अर्थात् निर्मल चरित्र के धारक, मुक्ताफल के समान तथा आनन्द देने में चतुर, ऐसे गुणी मनुष्यों से वह देश सदा सुशोभित रहता था।

कई प्रसंगों पर राजाओं को जैन मुनियों द्वारा तात्त्विक एवं आचारिक उपदेश दिये गये हैं, जो आज भी उतने ही सामयिक एवं प्रासंगिक हैं। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं-

"हिंसाया: कारणं तद्धि सा च संसारकारणम्"[५] पीड़ा उत्पन्न करने वाला वचन हिंसा का कारण है और हिंसा संसार का कारण है।

"धर्मस्य हि दया मूलं तस्या मूलमहिंसनम्" धर्म का मूल दया है और दया का मूल अहिंसा रूप परिणाम है।

"धर्मेण मोक्षं प्राप्नोति"[७] धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है।

"कायेन मनसा वाचा यानि कर्माणि मानवा:। कुर्वते तानि यच्छिन्ति निकचानि फलं ध्रुवम्।

कर्मणामिति विज्ञाय पुण्यापुण्यात्मिकां गतिम्। दृढां कृत्वा मतिं धर्मे स्वमुत्तारय दु:खत:।।"[८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य मन, वचन, काय से जो कर्म करते हैं वे छूटते नहीं हैं और प्राणियों को अवश्य ही फल देते हैं। इस प्रकार कर्मों के पुण्य-पाप रूप फल का विचार कर अपनी बुद्धि धर्म में धारण करो और अपने आपको दु:खों से बचाओ।

पुण्येन लभ्यते सौख्यमपुण्येन च दु:खिता:। कर्मणामुचितं लोक: सर्वम् फलमुपाश्नुते।।[९]

पुण्य से सुख प्राप्त होता है और पाप से दु:ख मिलता है। प्राणी अपने कर्मों के अनुरूप ही सब प्रकार का फल प्राप्त करते हैं।

"सर्वासामेव शुद्धीनां मन:शुद्धि प्रशस्यते"[१०] अर्थात् सब शुद्धियों में मन की शुद्धि प्रशंसनीय है।

कहा जा सकता है कि पुराण की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से आम जनता के लिए तो नहीं हो सकती किन्तु एक दार्शनिक, इतिहासवेत्ता, शोधार्थी के लिए पुराण महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य स्रोत हैं। पुराण की भारतीय संस्कृति के रक्षण एवं संवर्द्धन में महनीय भूमिका सम्भव है।

संदर्भ :

१. **पद्म पुराण**, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पर्व २०, श्लोक २४१

२. **पद्म पुराण**, पर्व ५, श्लोक २, ३

३. **पद्म पुराण**, पर्व २४, श्लोक ५

४. **पद्म पुराण**, पर्व २, श्लोक २९

५. **पद्म पुराण**, पर्व ५, श्लोक ३४२

६. **पद्म पुराण**, पर्व ६, श्लोक २८६

७. **पद्म पुराण**, पर्व ६, श्लोक २९७

८. **पद्म पुराण**, पर्व १३, श्लोक ९७, ९८

९. **पद्म पुराण**, पर्व ३१, श्लोक ७६

१०. **पद्म पुराण**, पर्व ३१, श्लोक २३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

धम्म चक्र प्रवर्तन सूत्र : मानवीय दुःख विमुक्ति का निदान पत्र

प्रो० अँगने लाल*

'धम्म चक्र प्रवर्तन सूत्र' चार पदों वाला सूत्र है। १. धम्म २. चक्र (चक्क) ३. प्रवर्तन (पवत्तन) एवं ४. सूत्र (सुत्त)। पूरे सूत्र को समझने के लिये चारों पदों का अर्थ और तात्पर्य समझना आवश्यक है।

धम्म : धम्म का तात्पर्य तथागत गौतम बुद्ध का सद्धम्म संदेश है। यह धम्म 'रिलीजन' या 'मजहब' से सर्वथा भिन्न है।[१] धम्म का किसी आत्मा-परमात्मा से कुछ लेना-देना नहीं और न किसी देवी-देवता अथवा कर्मकाण्ड से ही कोई सरोकार है।[२]

बुरे कर्मों से बचे रहना, अच्छे कल्याणकारी कार्यों को करना और अपने मन और चित्त को निर्मल रखना यही धम्म है:

"सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा
सचित्त परियोदपनं एतान बुद्धानुसासनं"[३]

चक्क (चक्र) : चक्क का सीधा अर्थ चक्का या पहिया है। यह चक्का प्रगति-विकास का प्रतीक है। इसलिये मानव समाज के लिये हित सुखकारी है। इस चक्र का उस चक्र (सुदर्शन) से कोई सम्बन्ध नहीं है जो विष्णु या कृष्ण के हाथ में है। जिसका नाम तो 'सुदर्शन' है लेकिन वह किसी की हिंसा और किसी का उपकार करने वाला है। लेकिन धम्म चक्र से किसी की हिंसा नहीं होती, सभी का कल्याण ही होता है।

बैलगाड़ी के पहिये में अथवा किसी गाड़ी के पहिये में आरा-गज होते हैं जो चारों ओर के वृत्त को रोके रहते हैं। चक्के के बीचो-बीच केन्द्र में आरा-गजों को रोकने के लिये 'हब' होता है। इसी हब में धुर द्वारा पूरा चक्का घूमता है। साइकिल के चक्के में तीलियाँ (स्पोक्स) लगती हैं जो पहिये को ठीक रखती हैं।

* *पूर्व कुलपति, डा० राममनोहर लोहिया विश्वविद्यालय, फैजाबाद*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध साहित्य में यह उल्लेख मुझे पढ़ने को नहीं मिला कि अनुत्तर पुरुष बुद्ध ने जिस 'धम्म चक्क' को घुमाया था उसमें कितने आरा गज, तीलियां या स्पोक्स थे? लेकिन बौद्ध कला में इसका चित्रांकन अवश्य प्राप्त होता है। सबसे पहले सम्राट अशोक ने प्रस्तर स्तम्भों पर धम्म चक्र बनवाया जिसमें २४ तीलियाँ हैं। धम्म सर्वोपरि है इसलिये स्तम्भ में अन्य बौद्ध धम्म के प्रतीकों में सबसे ऊपर यह धम्म चक्र बनवाया गया था। इसका सबसे अच्छा उदाहरण सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष भाग और चक्र है।

बौद्ध साहित्य में 'शाक्य मुनि बुद्ध' को ३२ महापुरुष लक्षणों से युक्त बताया गया है।[४] इसका भी अंकन कला में चक्का बनाकर किया गया जिसमें ३२ तीलियाँ हैं। ऐसे चक्र को धम्म चक्क नहीं, 'बुद्ध-चक्र' कहा गया है। धम्म चक्र में २४ तीलियाँ ही क्यों हैं, इसका विवेचन अगले पृष्ठों में किया जायेगा।

पवत्तनः इस पद का तीसरा भाग 'पवत्तन' है जिसका तात्पर्य है प्रवर्तन करना, गति प्रदान करना या घुमाना। इससे यह आभासित होता है कि धम्म चक्र था तो इसके पहले भी लेकिन गतिमान न होकर स्थिर हो गया था। यह उल्लेखनीय है कि गौतम बुद्ध के पहले भी बुद्ध हुये थे और उन्होंने भी "धम्म चक्र प्रवर्तन" किया था। ऐसे पूर्व बुद्धों की संख्या ६, २३ और २७ बताई गई है। इनमें गौतम बुद्ध का स्थान क्रमशः ७वाँ[५] २४वाँ[६] और २८वाँ[७] रहा है।

चक्का घुमाने के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि तथागत ने अपना धम्म चक्र किस ओर से किस ओर अर्थात् घड़ी की सुई की तरह अथवा उसके विपरीत घुमाया था। दोनों में अन्तर यह है कि एक कसने वाला है और दूसरा खोलने वाला है। आगे यथा स्थान इस पर विचार किया जायेगा।

विद्याचरण सम्पन्न बुद्ध के उपदेशों की यह विशिष्टता है कि वे लोगों के सामने किसी बात का पक्ष-विपक्ष अथवा अच्छाई-बुराई का वर्णन कर उसे अच्छाई की ओर मोड़ते थे। ताकि श्रोता स्वयं निर्णय और निश्चय कर सकें।

सुत्तः इस पद का अन्तिम भाग सुत्त है। सुत्त का तात्पर्य सूत्र अर्थात् अति संरक्षित रूप से है। यहां इसका तात्पर्य भगवान बुद्ध के 'प्रथम धम्म चक्र प्रवर्तन सूत्र' से है जिसका प्रवर्तन उन्होंने सारनाथ (ऋषि पत्तन मृगदाव) में किया था।[८] इसे सबसे पहले उन्होंने अपने पाँच शिष्यों को बताया था जो बौद्ध साहित्य में 'पंचवर्गीय भिक्षु' नाम से प्रसिद्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरे पद के चारो भागों के अलग-अलग अर्थ और तात्पर्य समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान बुद्ध के धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र का तात्पर्य उस उपदेश से है जिसे उन्होंने बोध गया में ज्ञान (संबोधि) प्राप्त करने के बाद सारनाथ आकर सबसे पहले पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। यह माना जाता है कि ज्ञान सूत्र (प्रतीत्य समुत्पाद) उन्होंने बोधगया में प्राप्त किया था तथा उसका भाष्य और विश्लेषण उन्होंने सारनाथ में किया था। इसे मानव के दु:ख मुक्त करने का औषधि पत्र या निदान पत्र (प्रस्क्रिप्शन) कहा गया है।

वास्तव में प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र दु:ख मुक्ति का निदान पत्र ही था। इसमें भगवान बुद्ध ने पहले बताया था कि दो अतियों से दूर रहना सुखी जीवन का प्रथम चरण है। ये दो अतियाँ-काम सुख की अति और काय कलेश की अति है। इनका आचरण न करना सुखी रहने का उत्तम मार्ग है जिसे 'मध्यम मार्ग' या 'मज्झिमा पतिपदा' कहा गया है। एक कुशल वैद्य की भांति महाभिषक गौतम बुद्ध ने सबसे पहले दु:ख दर्द रूपी रोग का कारण खोजा कि आखिर यह दु:ख रोग होता ही क्यों है। सुख और क्लेश की चरम सीमा ही दु:ख है। संसार में गरीब, अमीर, सेठ, साहूकार, राजा, प्रजा सभी किसी न किसी दु:ख से पीड़ित हैं। यह दु:ख शारीरिक, मानसिक और वैचारिक हो सकता है। उन्होंने बताया कि सभी प्रकार के दु:खों का मूल कारण तृष्णा, लोभ और लालच है। दो से चार, चार से आठ, सोलह, सौ, हजार, लाख, करोड़ की बढ़ती हुई इच्छा ही तृष्णा है। उन्होंने इस दु:खरोग को दूर करने की औषधि, निदान और उपचार भी खोजा। यह उपाय या औषधि निदान है- शील का आचरण। इसके लिये पंचशील का आचरण आवश्यक है। सबसे बाद में उन्होंने उस औषधि निदान की प्रयोग विधि बतलाई (दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपदा)।[९] इस औषधि निदान के आठ अंग या भाग हैं जिनके क्रमिक आचरण से ही रोग दूर होता है। इसलिये इस निदान पत्र को "अष्टांगिक मार्ग" भी कहा जाता है।

अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग इस प्रकार हैं:-

१. **सम्मा दिट्ठि-** सही और वास्तविक रूप में समझना

२. **सम्मा संकल्प-** सम्यक् संकल्प, दृढ़ निश्चय

३. **सम्मा वाचा-** झूठ, कठोर न बोलना और चुगली न करना

४. **सम्मा कमन्त-** कल्याणकारी और हितकारी कार्य करना

५. **सम्मा आजीव-** विधि सम्मत आजीविका कमाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. सम्मा वायामो- कुशल कर्म करने, बुरे कर्मों को न करने, किये गये अच्छे कार्यों को बढ़ाने तथा नये कुशल कर्म करने का प्रबल प्रयास ही सम्यक् व्यायाम है।

७. सम्मा सति- सम्यक् स्मृति, याद रखना

८. सम्मा समाधि- एकाग्र चित्तता

इन आठो अंगों को प्रज्ञा, शील और समाधि तीन वर्गों में रखा गया है। प्रज्ञा के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प, शील के अन्तर्गत सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजिविका तथा समाधि के अन्तर्गत सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि को रखा गया है।

तथागत ने इसे विविध प्रकार से समझाने के बाद धम्म चक्र को गति प्रदान करने के लिये भिक्षुओं से कहा कि मैं (उरूबेला-सैनानिगम) मगध में धम्म प्रचार के लिये (धम्म चक्र को गति प्रदान कराने, घुमाने के लिये) जाता हूँ। तुम लोग भी बहुजन हित और बहुजन सुख के लिये, उनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिये उपदेश करने के लिये जाओ। एक साथ दो न जाना। साथ ही यह भी निर्देश दिया कि ब्रह्मचर्य पालन करते हुये समाज में विचरण करो। (बह्मचर्य प्रकासयेत)[१०] और लोगों को ऐसे ही धम्मोपदेश करो जो उनके लिये प्रारम्भ, मध्य और अन्त में भी कल्याणकारी हों।[११]

तथागत गौतम बुद्ध के धम्म चक्र का स्वरूप क्या था? इसका विवरण साहित्य में नहीं मिलता। सबसे पहले सम्राट अशोक ने 'धम्म चक्र' को कला में उतारा। अपने पाषाण स्तम्भों पर उस 'मौर्य कुंजर' ने चौबिस तीलियों वाले धम्म चक्र को प्रतिष्ठापित किया। उसका सारनाथ स्तम्भ पर उत्कीर्णित धम्म चक्र, कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इसी स्तम्भ के शीर्ष भाग को गणतंत्र भारत में 'राष्ट्र चिह्न' और धम्म चक्र को 'राष्ट्र ध्वज चिह्न' के रूप में अपनाया गया है। साँची, भरहुत आदि प्रसिद्ध स्तूपों में भी धम्म चक्र का अंकन प्राप्त होता है।

धम्म चक्र में २४ तीलियाँ ही क्यों हैं, इस विषय में कुछ विद्वानों का यह मत है कि यह 'प्रतीत्य समुत्पाद की बारह कड़ियों[१२] का अनुलोम और प्रतिलोम क्रम का द्योतक है। दूसरे विद्वान इन २४ तीलियों में दो अन्तर,[१३] चार आर्य सत्य[१४], आठ अष्टांगिक मार्ग[१५] और दस पारमितायें[१६] समाहित मानते हैं।

धम्म चक्क पवत्तन सुत्त के विषय में एक प्रश्न यह भी उभर कर आया है कि बुद्ध ने अपना धम्म किस ओर से किस ओर को घुमाया। घड़ी की तरह बायें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से दायें अथवा घड़ी की सुई के विपरीत दाहिने से बायीं ओर को। यहां यह स्मरणीय है कि बुद्ध ने धम्म चक्र प्रवर्तन लोगों के दु:ख बन्धनों को खोलने के लिये किया था। बांयी ओर से दाहिनी ओर बन्धन कसता है और अधिक मजबूत, सुदृढ़ होता है। दाहिनी और से बायीं ओर घुमाने पर दु:ख बन्धन ढीला होता है, शिथिल होता है और टूटता है। इसलिये भगवान बुद्ध ने चक्र को दाहिने से बायीं ओर घुमाया था जिसे 'एन्टी क्लाकवाइज' कहते हैं।

वस्तुत: महामानव बुद्ध का धम्म चक्र संसार के दु:खी प्राणियों को दु:ख मुक्त करने, शोकाकुल लोगों को शोक मुक्त करने और भयभीत लोगों को निर्भय करने के लिये ही था:

"दुक्कप्पत्ता च निदुक्खा, भयप्पत्ता च निब्भया।
सोकप्पत्ता च निस्सोका होन्तु सब्बेपि पाणिनो।

सन्दर्भ :

१. डा० बी०आर०अम्बेडकर, **बुद्ध एण्ड हिज धम्म**, (हिन्दी अनुवाद) पृ० २४९-२५६.

२. **वही** पृ० १९३-२०१.

३. **धम्मपद**, १४/५.

४. **दीघनिकाय**, राहुल सांकृत्यायन, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, लखनऊ, १९७९ ई०, पृ०-९९।

५. **दीघनिकाय**, (हिन्दी अनुवाद) राहुल सांकृत्यायन बुद्ध विहार, लखनऊ, १९६९ ई०, पृ०-९५ के अनुसार (१) विपस्सी (२) सिखी (३) वेस्सभू (४) ककुसन्ध (५) कोणागम (६) कस्सप और (७) गौतम बुद्ध।

६. आचार्य नरेन्द्र देव, **बौद्ध धर्म दर्शन**, पृ०-१०५ (पटना, १९५६)।

७. **वही**, **भारतीय तथा विदेशों में बौद्ध धर्म प्रसारण**, (डा० श्रीमती यमुना लाल, दिल्ली, १९९३), पृ०-२१, (१) तण्हंकर (२) मेधकर (३) शरणंकर (४) दीपकर (५) कोण्डन्य (६) मंगल (७) सुमन (८) रेवत (९) शोभित (१०) असीम दस्सी (११) पद्म (१२) नारद (१३) पदोत्तर (१४) सुमेध (१५) सुबोध (१६) प्रियदर्शी (१७) आर्यदर्शी (१८) सिद्धार्थ (१९) तिष्य (२०) फुस्स (२१) विपश्यी (२२) सिखि (२३) वेस्सभू (२४) ककुसन्ध (२५) कोणागम (२६) कस्सप (२७) गौतम बुद्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. महायान में तीन धर्म चक्र प्रवर्तन माने जाते हैं। पहला सारनाथ (उत्तर प्रदेश) में दूसरा गृद्धकूट पर्वत पर (राजगृह, बिहार प्रदेश) और तीसरा धान्य कटक (अमरावती आन्ध्र प्रदेश) में।

९. **महावग्ग पालि,** (नव नालन्दा महाविहार संस्करण, १९५६), पृ०-१३.

१०. **महावग्ग पालि,** पृ०-२३.
यहाँ 'ब्रह्मचर्य प्रकासयेत' पद यह दर्शाता है कि उस समय समाज में विचरण करने वाले संन्यासी परिव्राजकों में ब्रह्मचर्य पालन की कमी थी।

११. **वही**, १३.

भगवान बुद्ध का यह निर्देश और आदेश भी यह इंगित करता है कि उस समय के उपदेशक अनावश्यक और बेकार के अनर्गल उपदेश भी देते थे। तभी भगवान ने केवल मानवीय हित या सुख और कल्याणकारी उपदेश ही देने का आदेश दिया।

१२. प्रतीत्य समुत्पाद : (१) अविद्या, (२) संस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा (९) उपादान (१०) भव (११) जाति (जन्म) (१२) जरा मरण।
इनमें से प्रत्येक पूर्व की कड़ी अगली कड़ी को जन्म देती है। पूर्व की कड़ी कारण और बाद की कड़ी फल है।

१३. काय सुख और काय कलेश की चरम सीमा।

१४. (१) दुःख आर्य सत्य (२) दुःख समुदय आर्य सत्य (३) दुःख निरोध आर्य सत्य और (४) दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा आर्य सत्य।

१५. अष्टांगिक मार्ग पिछले पृष्ठों में वर्णित है।

१६. दस पारमितायें : (१) शील (२) दान (३) उपेक्षा (४) नैष्क्रम्य (५) वीर्य (६) शान्ति (७) सत्य (८) अधिष्ठान (९) करुणा (१०) मैत्री ।

नैष्क्रम्य = सांसारिक काम भोगों का त्याग; वीर्य = सम्यक् प्रयत्न हेतु उत्साह; अधिष्ठान = दृढ़ निश्चय, **(डा० बी०आर० अम्बेडकर भगवान बुद्ध और उनका धम्म चक्र,** पृ० २०१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

प्रतीत्यसमुत्पाद और निमित्तोपादानवाद

कु० अल्पना जैन*

द्वितीय आर्यसत्य के अन्तर्गत वर्णित प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त बौद्धदर्शन के मूल सिद्धातों में एक एवं विशिष्ट सिद्धान्त है। इसे पालि भाषा में 'पटिच्चसमुत्पाद' कहा जाता है। यह कारणता विषयक सिद्धान्त है जो प्रत्येक कार्य को कारण सापेक्ष स्वीकार करता है।[१] जगत् की समस्त वस्तुओं में सर्वत्र यह कार्य-कारण का नियम जागरूक है, कुछ भी अकारण नहीं है। सम्भवत: भगवान बुद्ध इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अपने समय में प्रचलित उन समस्त सिद्धान्तों का निराकरण करना चाहते थे जो किसी वस्तु की उत्पत्ति को सकारण न मानकर यादृच्छिक या आकस्मिक मानने के दृढ़ इरादे पर अडिग थे तथा जनसामान्य में भी उसी अवैज्ञानिक मान्यता का प्रसार कर रहे थे। भगवान बुद्ध ने इस सिद्धान्त के द्वारा न केवल यादृच्छिकतावाद का निषेध किया, बल्कि कार्य-कारण के सम्बन्ध में उस दृष्टिकोण को भी अस्वीकार किया, जो किसी वस्तु की उत्पत्ति में कारणत्व को तो स्वीकार करता है, किन्तु वह कारणत्व में ज्ञात तत्त्वों के अतिरिक्त प्रकृति, ईश्वर आदि अलौकिक तत्त्वों को भी स्वीकार करता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद (का सिद्धान्त) कारणता की क्षणिकवादी अवधारणा है। इसके अनुसार, प्रत्येक वस्तु परतन्त्र, आश्रित, सापेक्ष तथा प्रतीत्य-समुत्पन्न होने के कारण क्षणिक व अस्थायी है अर्थात् प्रत्येक वस्तु केवल एक क्षणमात्र अस्तित्व रखती है। वह उत्पत्ति के ठीक तुरन्त बाद नष्ट हो जाती है। उनका मानना है कि वस्तु का अस्तित्व क्षणिक होने पर ही वह अन्य वस्तुओं को उत्पन्न कर सकती है, क्योंकि क्षणिक वस्तु में ही अर्थक्रियाकारित्व सम्भव है। यदि वस्तु नित्य व अपरिवर्तन-शील हो तो अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में उसमें अन्य वस्तु को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती है। अत: ऐसी वस्तु की सत्ता ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार अस्तित्व संसार के पदार्थों की व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता का नाम है। जैस- बीज की सत्ता है; क्योंकि उससे

* *फेलो आई०सी०पी०आर०, शोध छात्रा, दर्शन विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर वि०वि०, सागर*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंकुर उत्पन्न होता है इत्यादि जो कि क्षणिकवाद में ही सम्भव है, परन्तु स्थायी पदार्थों में परिवर्तन की यह शक्ति नहीं पायी जाती है।

दूसरी ओर, बौद्धों से विपरीत वेदान्ती कार्य-कारण सम्बन्ध में सत्कारणवाद को स्वीकार करते हैं जो कारणता की नित्यवादी अवधारणा है। इसके अनुसार, सत्ता सर्वथा कूटस्थ नित्य व अपरिणामी है। नित्य व अपरिणामी वस्तु से उत्पन्न तथाकथित कार्य उसका विवर्त है। जैन-दर्शन वस्तु की सर्वथा क्षणिकवादी व सर्वथा नित्यवादी दोनों अवधारणाओं को अस्वीकृत कर वस्तु को परिणामी नित्य मानता है।[२] इस तथ्य का युक्ति-युक्त प्रतिपादन करता है कि सर्वथा क्षणिक व सर्वथा नित्य वस्तु में अर्थक्रिया का अभाव होने से वह न तो किसी का कारण हो सकती है और न वह किसी कार्य को उत्पन्न कर सकती है। बौद्ध दर्शन में वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व माना गया है।[३] किन्तु सर्वथा क्षणिक वस्तु का लक्षण अर्थ-क्रिया नहीं हो सकता है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत्। क्षणिक पदार्थ में देशकृत, कालकृत ब स्वभावकृत क्रम सम्भव न होने से वह क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता। क्योंकि वह उसी देश व उसी काल में नष्ट हो जाता है, वह न तो दूसरे देश में जाता है और न दूसरे काल में। तब उसमें देशादिकृत क्रम कैसे बन सकता है? क्षणिक पदार्थ अनेक शक्यात्मक और अनेक स्वभावात्मक न होने से युगपत् अनेक कार्यों को भी नहीं कर सकता।[४] इस प्रकार अर्थक्रिया लक्षण क्षणिक पदार्थ में व्याप्त न होने से उसमें कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं हो सकता।

इसी प्रकार सर्वथा नित्य पदार्थ में भी अर्थ-क्रिया रूप क्रम व यौगपद्य नहीं बन सकते। नित्य पदार्थ क्रम से अर्थ-क्रिया नहीं कर सकता; क्योंकि नित्य पदार्थ जिस स्वभाव से पहले कार्य को करता है यदि उसी स्वभाव से उसके बाद होने वाले दूसरे कार्य को भी करता है तो दूसरे कार्य को भी पूर्वकाल में हो जाना चाहिए। क्योंकि दोनों कार्यों को करने का स्वभाव एक ही है। और यदि नित्यपदार्थ युगपत् अर्थक्रिया करता है तो उसके द्वारा एक ही क्षण में सब कार्यों की उत्पत्ति हो जाने से उत्तरकाल में वह अनर्थक्रियाकारी हो जाएगा। तब वह आकाश-पुष्प की तरह असत् ठहरेगा।[५]

पूर्वोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वथा क्षणिक व सर्वथा नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया लक्षण सम्भव न होने से कार्यकारण भाव नहीं बन सकता है। ऐसे पदार्थ में ही अर्थक्रिया लक्षण घटित हो सकता है जो परिणामी व नित्य स्वभाव वाला हो अर्थात् कथंचित् नित्य व कथंचित् क्षणिक हो; क्योंकि जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु कथंचित् नित्य व अनेक धर्मात्मक है उसमें क्रम से व युगपत् अर्थक्रिया होने में कोई बाधा नहीं आती है।[६] अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि कथंचित् नित्य-अन्त्यात्मक वस्तु में निर्दोष कार्य-कारण व्यवस्था कैसे सम्भव है? जैन-दर्शन में कार्य-कारण सम्बन्ध सिद्धान्त 'निमित्तोपादन' के नाम से प्रचलित है। जैन-दर्शन के अनुसार द्रव्य का न तो सामान्य अंश उपादान कारण होता है और न विशेष अंश। अपितु सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य ही उपादानकारण होता है। कहा भी गया है - "जो अपने स्वरूप को छोड़ता है ऐसा केवल क्षणिक पर्याय और जो अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है ऐसा केवल शाश्वत् सामान्य पदार्थ अर्थ का उपादान नहीं हो सकता"।[७]

जैनदर्शन कार्य की उत्पत्ति में दो कारणों को स्वीकृत करता है[८] -

१. उपादानकारण-जिस द्रव्य में कार्य निष्पन्न हो, वह उपादान कारण है।[९]

२. निमित्तकारण -जो द्रव्य स्वयं कार्य रूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिस पर कारणपने का आरोप आता है, वह निमित्तकारण है।[१०]

जैन दर्शन में उपादानकारण भी दो प्रकार का है[११] -

१. त्रिकाली उपादानकारण - जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्य रूप परिणमित हो, वह द्रव्य या गुण उस कार्य का त्रिकाली उपादान कारण है।

२. क्षणिकउपादानकारण - इसके भी दो भेद हैं।[१२]

१. अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय रूप क्षणिक उपादान कारण।

२. तत्समय की योग्यता रूप क्षणिक उपादान कारण।

जैनदर्शन में उपादान कारणों के भेदों की स्वीकृति में वस्तु का वह अनेकधर्मात्मक स्वरूप निहित है जिसको स्वीकार किये बिना कार्य-कारण विषयक निर्दोष व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती है। त्रिकाली उपादान कारण जो नित्य है, इसे 'द्रव्यशक्ति' भी कहा जाता है। यह कार्य का नियामक/समर्थ कारण न होने पर भी इस तथ्य को सूचित करता है कि अमुक कार्य अमुक द्रव्य में ही होगा और यदि इसे समर्थ कारण माना जाए तो कार्य के नित्यत्व का प्रसंग उपस्थित होगा, जो कि युक्तिसंगत नहीं है। इसीलिए क्षणिक उपादान स्वीकृतकर उसे कार्य का समर्थ कारण माना गया है जो अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्यय रूप एवं तत्समय की योग्यता रूप होता है। इसे 'पर्यायशक्ति' भी कहा जाता है। यह शक्ति अनित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है जो यह बताती है कि प्रत्येक द्रव्य का विवक्षित कार्य, विवक्षित समय में होगा। इस प्रकार द्रव्यशक्ति से युक्त पर्याय-शक्ति ही कार्यकारी है, न अकेली द्रव्यशक्ति और न केवल पर्यायशक्ति।[१३]

यदि निमित्त कारण को सम्मिलित कर कहा जाए तो इस प्रकार से कहना होगा कि सहकारी कारणसापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्य को उत्पन्न करनें में समर्थ है। इस प्रकार जैनदर्शन त्रिकाली उपादान कारण सहित क्षणिक उपादान कारण व निमित्त कारण को स्वीकृत कर कार्य-कारण सम्बन्धी समस्त एकांगी मतों का निराकरण करता है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनेकधर्मात्मक वस्तु ही कार्य-कारण व्यवस्था की कसौटी पर खरी उतर सकती है, एकधर्मात्मक वस्तु नहीं।[१४] तथा यह बात स्पष्टतया परिलक्षित होती है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में कार्य-कारण व्यवस्था अविरोधरूप क्यों नहीं बन सकती।

कारण कि -

(१) बौद्ध-दर्शन में पदार्थ क्षणिक होने से कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है जो कि असम्भव है; क्योंकि जब कारण रूप से माना गया पदार्थ कार्य कि उत्पत्ति के समय नष्ट हो जाता है तब उसके द्वारा कार्य उत्पन्न कैसे होगा? वास्तव में, कारण के सद्भाव में ही कार्य उत्पन्न होता है, उसके अभाव में नहीं।[१५]

(२) कारण के अभाव में क्रार्योत्पत्ति मानने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कारण की सत्ता के साथ कार्य की उत्पत्ति का विरोध है जिसके कारण कार्य को अपनी उत्पत्ति के लिए कारण के अभाव की प्रतीक्षा करनी पड़े अर्थात् जब कारण का अभाव हो जाय तब कार्य की उत्पत्ति हो सके, परन्तु कार्य की उत्पत्ति कारण के अभाव की प्रतीक्षा नहीं करती है।

यदि कारण के अभाव होने पर कार्य निष्पन्न हो तो वह कार्य कारण के बिना ही उत्पन्न कहलाएगा तथा ऐसे कार्य में देश, काल और स्वभाव का कोई नियम नहीं बनेगा और जो अकारण है उसके सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। एक बात और द्रष्टव्य है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार, भाव और अभाव का परस्पर में कार्यकारण भाव प्राप्त होगा, परन्तु अभाव किसी का कारण नहीं होता है। अत: कार्य के काल में कारण का सद्भाव मानना आवश्यक है इसके बिना त्रिकाल में भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[१६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) न्यायशास्त्र में कार्य कारणभाव 'अन्वय-व्यतिरेकगम्य' माना गया है लेकिन प्रतीत्यसमुत्पाद में कार्यकारण में अन्वय-व्यतिरेक बन ही नहीं सकता, क्योंकि यहाँ कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति मानी गयी है और कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी गयी है। अत: अन्वय-व्यतिरेक के अभाव में कार्य-कारण सम्बन्ध किसी प्रकार सम्भव नहीं है।[१७] और भी कहा गया है - 'सर्वथा अनित्यपक्ष के पोषक बौद्ध लोग किसी भी अन्वयी कारण से निरपेक्ष एक सन्ताननामा तत्त्व को स्वीकार करके सर्वथा पृथक-पृथक कार्यों में कारण-कार्यभाव घटित करने का असफल प्रयास करते हैं, परन्तु वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।'[१८]

निष्कर्ष - सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि यद्यपि बौद्ध दर्शन में मान्य प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त कार्य की कारण सापेक्षता को स्वीकृत कर कार्योत्पत्ति सम्बन्धी समस्त मिथ्या मान्यताओं का निराकरण करता है, परन्तु स्वयं उसके द्वारा मान्य क्षणिकवादी वस्तु में कार्य-कारण सिद्धान्त किसी भी प्रकार घटित नहीं हो सकता है।

सन्दर्भ :

१. (i) इमस्मिं सति इदं होति।

(ii) हेतु प्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पाद: प्रतीत्यसमुत्पादार्थ:। **चन्द्रकीर्ति वृति**-१.१.

२. (i) सत्द्रव्यलक्षणम् । ५/२९.

(ii) उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् । ५/३०.

तत्वार्थसूत्र : उमास्वामी, जयपुर, १९९६.

अर्थक्रिया क्रम व यौगपद्य के द्वारा व्याप्त है।

३. अर्थक्रियाकारित्व लक्षणंसत् ।

४. (i) **न्यायकुमुदचन्द्र** : आ० प्रभाचंद्र, भाग १, पृ० ३७९.

(ii) **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन** : प्रो० उदयचंद जैन, पृ० २१४, मुजफ्फरनगर, २००१.

५. (क) **वही** पृ० २१०

(ख) **न्यायकुमुदचन्द्र**, भाग - १, पृ०३७२-३७४.

६. **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन**, पृ० २१०.

७. यत् स्वरूपं त्यजत्येव मन्न त्यजति सर्वथा।

तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा।।

अष्टसहस्री : आ० विद्यानंद, पृ० २१०, सोलापुर, १९९०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. (i) द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च, **राजवार्तिक** : आ० अकलंकदेव, अ०-२ सूत्र ८ नई दिल्ली, १९९३.

(ii) **लघु जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका**, पृ० ३८, जयपुर, १९९३.

९. द्रव्य गच्छतीति द्रव्य कारणम्।

राजवार्तिक, अ० - १, सूत्र नं० ३३, पृ० ९५.

१०. **लघु जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका**, पृ० ३९.

११. तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिंक शाश्वतं यथा।

अष्टसहस्री, श्लोक ५८ की टीका, पृ० २१०.

a (i) **जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला** : पं० कैलाशचंद सिद्धान्त शास्त्री, द्वितीय भाग, पृ० ७१, देहरादून।

(ii) पुव्वपरिणाम जुतं कारण भावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : आ० कार्तिकेय, गा० २३०, जयपुर, १९९६.

b (i) **निमित्तोपादान** : डॉ० हुकुमचंद भारिल्ल, पृ० ७८, जयपुर १९९७.

(ii) **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, भाग - २, अ० - १, पृ० १८७, मेरठ, वी०नि० सं० २५०४.

१२. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा०** २२५-२२६, पृ० १०२.

१३. **न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन**, पृ० २१४

१४. वही पृ० ३२१-३२२.

a **आप्तमीमांसा तत्त्वप्रदीपिका :** प्रो० उदयचंद जैन, पृ० २०६, वाराणसी, वीरनि० सं० २५०१.

b (i) **जैनेन्द्र सिद्धांत कोश :** क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भाग-२, पृ० ५६, नई दिल्ली।

(ii) **आप्तमीमांसा :** आ० समन्तभद्र, का० ४३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

महावीर कालीन मत-मतान्तर : पुनर्निरीक्षण

डॉ० विभा उपाध्याय*

आजकल के बाबा, वैरागी, स्वामी आदि पंथों की गणना की जाए, तो उनकी संख्या असंख्य होगी। किन्तु उनमें महत्त्वपूर्ण अथवा नाम लेने योग्य तो इने गिने ही मिलेंगे। इसी प्रकार छठी शताब्दी ईसा पूर्व में, इस प्रकार के अनेक मत-मतान्तर विद्यमान थे। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में इनकी संख्या ६२ (द्वासट्ठि दिट्ठि गतानि) अथवा ६३ (यानि च तीणि यानि च सट्ठि०) बताई गई है, एवं जैन धार्मिक साहित्य के अनुसार ऐसे सम्प्रदायों की संख्या ३६३ (इमाइ तिण्णि तेवट्ठाइं) थी। तत्कालीन जगत् में इन सम्प्रदायों ने बौद्धिक और नैतिक उथल-पुथल मचा रखी थी। आज इन पंथों की जानकारी शायद इसलिए नष्ट हो गई, कि छोटे-छोटे सम्प्रदाय, बड़े सम्प्रदायों में समाविष्ट हो गए अथवा अपनी कमजोरियों के कारण अधिक चल ही नहीं सके। फिर अधिकांशत: का लिखित इतिहास भी प्राप्त नहीं है।

इस लेख का उद्देश्य इन्हीं ६२ अथवा ३६३ पंथों, उनकी सूची, नाम आदि का विवरण प्रस्तुत करना है। उनके दर्शन पर विस्तार से लिखना एक लेख में सम्भव नहीं है, अत: इस लेख के माध्यम से मैं एक परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगी। यद्यपि इस प्रकार का प्रयास पहले भी विद्वानों के द्वारा किया जा चुका है, विशेषकर जिन विद्वानों ने बौद्ध धर्म और उसके इतिहास पर ग्रंथ लिखे। उदाहरणार्थ - *2500 Years of Buddhism* by P.V. Bapat; *Background to the rise of Buddhism, Studies in History of Buddhism* by A.L. Basham; *The History and Literature of Buddhism* by T.W. Rhys Davids एवं *Śramaṇa Tradition : Its History and Contribution to Indian Culture, Studies in the Origins of Buddhism* by G.C. Pande आदि ऐसे अनेक ग्रंथ हैं। इन विद्वानों ने बौद्ध साहित्य और जैन साहित्य दोनों की जानकारियों के साथ-साथ छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व के मत-मतान्तरों का विवरण दिया है। जैन धर्म और जैन साहित्य का इतिहास

* एसो० प्रोफेसर, प्रा०इ० एवं भा०सं० विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखने वाले विद्वानों ने भी ऐसा प्रयास किया है, पर वह बहुत कम है। उदाहरण के लिए कैलाश चन्द शास्त्री का "जैन साहित्य का इतिहास" (२ भाग) एवं कैलाश चन्द जैन का *Lord Mahāvīra and his times.* प्रो० कैलाश चन्द जैन ने काफी विस्तार से ग्रंथ के एक अध्याय में इस विषय पर प्रकाश डाला है। महावीर के समय प्रचलित दर्शन, श्रमण परम्परा, तपस्वियों, परिव्राजकों के उल्लेख के साथ-साथ देवी-देवताओं, उनकी पूजा पद्धति सभी पर प्रकाश डाला है। कुछ सन्दर्भ उनसे छूटे हैं, जो इस लेख में लिए गए हैं। दूसरी ओर इस लेख में मुख्य रूप से जैन साहित्य के माध्यम से सामग्री एकत्रित करने का प्रयास किया गया है। जैन साहित्य के आधार पर जो सूची अलग से तैयार की गई है, वह डॉ० जैन की सूची से बड़ी है। साथ ही इन मत-मतान्तारों का समीक्षात्मक विश्लेषण कर कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है।

इस दृष्टि से इस लेख में महावीर कालीन पंथों, ब्राह्मणों, श्रमणों, तपस्वियों, संन्यासियों के भिन्न-भिन्न वर्गों का उल्लेख किया गया है। साक्ष्य के रूप में जो जैन साहित्य, विशेष रूप से उपयोग में लिया गया है, वह है, सूत्रकृतांग सूत्र (सूयगडंग), औपपातिक सूत्र (ओववाइय सूय), भगवती सूत्र या व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाहपण्णति) । इन ग्रन्थों से प्राप्त जानकारी का समीकरण कई स्थानों पर तत्कालीन अन्य साक्ष्यों से भी करने का प्रयास किया गया है। छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में इन सम्प्रदायों के लिए तित्थीय, तीर्थंकर, वाद, दर्शन, प्रावादुक, शास्ता, यूथिक, तीर्थक (उत्थिय) श्रमण, भिक्षु, यति, मुनि, ब्राह्मण, परिव्राजक, संन्यासी, बैखानस, निगण्ठ आदि शब्द प्राप्त होते हैं।

सर्वप्रथम साहित्य में वर्णित ६२ और ३६३ विभाजनों को देखें। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में बुद्ध के द्वारा दिए गए १८६ प्रवचनों को ब्रह्मजाल कहा गया, एवं इसके द्वारा, भगवान बुद्ध ने शिष्यों के अज्ञान को इस जाल रूपी ज्ञान के द्वारा छाना और इसी सन्दर्भ में प्रचलित 'मिथ्यावादों' की चर्चा की, उनका खण्डन किया एवं अपने मत की प्रतिष्ठा की। इसमें वर्णित वादों की सूची निम्न है :

सस्सतवाद, एकच्च सस्सतवाद, अन्तान्तवाद, अमराविक्खेपवाद, अधिच्चसमुप्पन्नवाद, सञ्ञीवाद, असञ्ञीवाद, उच्छेदवाद, दिट्ठधम्म निब्बानवाद[1]। दीघनिकाय के महासीहनादसुत्त[2] में इन्हीं वादों की शृंखला में कुछ वादों का और उल्लेख है - जैसे उजुविपच्चनीकवाद, कालवाद, भूतवाद, अत्थवाद, धम्मवाद, विनयवाद। पुनः सामञ्ञफल सुत्त[3] में पूरणकस्सपवाद, मक्खलिगोसालवाद, अजितकेसकम्बलवाद, पकुधकच्चायनवाद, निगण्ठनातपुत्तवाद, सञ्जयबेलट्ठपुत्तवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहकर धर्माचार्यों द्वारा चलाए गए वादों का विवरण प्राप्त होता है। पुन: अम्बट्ठसुत्त[४] में पठमइब्भवाद, दुतियइब्भवाद, ततियइब्भवाद, दासिपुत्रवाद का उल्लेख प्राप्त होता है। इन शीर्षकों में जातिवाद, गोत्रवाद, मानववाद, और दासी पुत्र की कथाओं का उल्लेख है। यद्यपि दासिपुत्र और इभ् शब्द का अर्थ लगभग एक सा निकलता है, किन्तु 'वाद' में इसे रखा गया। ब्रह्मजाल सुत्त के इन वादों को वर्गीकृत कर प्रो० टी० डब्लू राइस डेविड्स[५] ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

(१) प्रथम एक से चार - **सस्सतवाद**, जिसके अनुसार जगत् और आत्मा दोनों ही शाश्वत और नित्य हैं। (२) पाँच से आठ - **एकच्च-सस्सतिकवाद** जिनके अनुसार (अ) ईश्वर नित्य है, किन्तु व्यक्तिगत आत्मा नहीं (ब) सभी ईश्वर नित्य हैं किन्तु व्यक्तिगत आत्मा नहीं (स) कुछ ईश्वर नित्य हैं, आत्मा नहीं (द) शरीर नश्वर है, किन्तु उसमें सूक्ष्म हृदय, मन अथवा चेतन (Consciousness) का निवास है। (३) नौ से बारह **अन्तनन्तिकवाद** जो जगत् के नित्य और अनित्य दोनों ही होने की सम्भावना बताते हैं। (४) तेरह से सोलह **अमर-विक्खेपिकवाद** जो पाप और पुण्य के सम्बन्ध में अस्पष्ट मत रखते हैं। (५) सतरह से अठारह- **अधिच्च-समुप्पण्णिकवाद** जो वस्तु की उत्पत्ति बिना कारण के भी सम्भव मानते हैं। (६) उन्नीस से पचास - **उद्धम–अधटनिकवाद** [६], जो भविष्य में भी, मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारते हैं। (७) इक्यावन से सत्तावन - **उच्छेदवाद**, जिसके अनुसार शरीर की मृत्यु के साथ ही आत्मा का उच्छेद अर्थात् नाश हो जाता है, कुछ नहीं बचता। (८) अट्ठावन से बासठ - **दिट्ठधम्मनिब्बानवाद** के अनुसार इस जगत् में आत्मा सम्पूर्ण सुख उठा सकती है, यह अवश्य है। उसके साधन अलग-अलग सम्भव हो सकते हैं।

इन बासठ (श्रमण पंथों) वादों के लिखित साक्ष्य नहीं होने के कारण इनमें से मात्र ६ बड़े संघों के दर्शन बाद तक पालि साहित्य में सुरक्षित हैं और वह है सामञ्ञफल सुत्त (पहले उल्लिखित) में वर्णित छह वाद: - (१) **पूरण कस्सपवाद**, पूरणकस्सप के द्वारा समर्थित अक्रियावाद जिसके अनुसार कोई कुछ करे या कराए, उसे न पाप मिलेगा न पुण्य। सांख्य दर्शन भी ऐसा ही मानता है कि आत्मा प्रकृति से भिन्न है और मारना, मरवाना आदि बातों का परिणाम उस पर नहीं होता। बी०एस० बरुआ[७] इस मान्यता को '**अहेतुवाद**' (No cause theory) (आत्मा को कोई भी कारण प्रभावित नहीं करता) अथवा उपरोक्त वर्णित 'अधिच्च-समुप्पाद ही मानते हैं। (२) मक्खलिगोसाल के द्वारा आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना की गई, जिसके सिद्धान्त **संसारशुद्धिवाद**[८] या **नियतिवाद** से मिलते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जुलते हैं। जिसके अनुसार आत्मा प्रकृति से अलिप्त है, फिर भी उसे निश्चित जन्म लेने पड़ते हैं और उसके बाद वह अपने आप मुक्त हो जाती है। यह कल्पना आज भी हिन्दू समाज में पाई जाती है कि चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर प्राणी मोक्ष को प्राप्त होता है। यह संसारशुद्धिवाद, अक्रियावाद से बहुत भिन्न नहीं दीख पड़ता है। (३) **अजितकेसकम्बलवाद,** अजितकेसकम्बल के द्वारा चलाए गए **उच्छेदवाद** का ही नाम है। यह वाद चार्वाकों की तरह पूर्णतया नास्तिकवाद था। आत्मा चार महाभूतों से उत्पन्न होती है और मरने के बाद पुनः चार महाभूतों में जा मिलती है। (४) पकुधकच्चायन के **अन्योन्यवाद** को **सत्तकायवाद** भी कहा गया। उसके द्वारा मान्य सात पदार्थ -पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सुख, दुःख और आत्मा, न बनते हैं, न बनाए जाते हैं, स्तम्भ की तरह अचल हैं। यह वाद 'सस्सतवाद' के निकट है और विशेषिक दर्शन का मूल भी प्रतीत होता है। (५) निगण्ठनाथपुत्त चातुर्यामसंवरवादी के अनुसार-चार याम- अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह थे, जिनका उपदेश पार्श्वमुनि ने किया था। महावीर स्वामी ने इसमें ब्रह्मचर्य जोड़ा था अर्थात् उस काल में निग्रन्थों में चार यामों का ही महत्त्व था। (६) सञ्जयबेलट्ठपुत्त-वाद **विक्षेपवाद** था, जिसकी किसी भी बात पर कोई निश्चित धारणा नहीं थी।

इसके अतिरिक्त भी बौद्ध साहित्य आत्मवादी श्रमणों[९] का उल्लेख करते हैं, जो आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं, जैसे **शाश्वतवाद**, अर्थात् आत्मा और जगत् शाश्वत है, और **उच्छेदवाद**, अर्थात् शरीर के नष्ट होने के बाद आत्मा भी नष्ट हो जाती है। उपरोक्त ६ वाद भी आत्मवादी ही प्रतीत होते हैं। शरीर और आत्मा के शाश्वत-अशाश्वत आदि मानने में ऊहापोह में पड़े रहने वाले **अनावश्यकवाद** का उल्लेख चूलमांलुक्यपुत्तसुत्त[१०] में प्राप्त होता है। यद्यपि इन स्थानों पर इन्हें आत्मवाद या अनावश्यकवाद नाम नहीं दिया गया है। इसी प्रकार अंगुत्तर निकाय के तिकनिपात (सुत्त संख्या ६१) और मज्झिम निकाय के देववह सुत्त (सुत्त संख्या - १०१) में ईश्वर का उल्लेख आया है। ईश्वर को मानने वाले वर्ग के मत को विद्वानों ने **ईश्वरवाद** का नाम दिया, जिसके अनुसार प्राणी जो कुछ सुख, दुःख या उपेक्षा भुगतता है, वह सब ईश्वर द्वारा निर्मित है (इस्सर-निम्मान हेतु)।

कस्सप सिंहनाद सुत्त[११] में बुद्ध के समकालीन आजीवक, निगंथ, मुंड-सावक, जटिलक, परिब्बाजक, मगन्दिक, टेडन्दिक, अविरुद्धक, गोतमक, देवधम्मक का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य में तत्कालीन सम्प्रदायों के लिए जो शब्द प्रयोग में लाए गए हैं, वे हैं- प्रावादुक (पावाउया), यूथिक, तीर्थक, उत्थिय, ब्राह्मण (माहण), श्रमण (समण), ब्राह्मण-श्रमण (माहण समण), परिव्राजक (परिव्वाया), निह्नव (णिण्हवा), ब्राह्मण-परिव्राजक (माहण परिव्वायगा), क्षत्रिय परिव्राजक (खत्तिय परिव्वाया)।

इसी प्रकार जैन साहित्य[१२] तत्कालीन ३६३ प्रावादुकों (...इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावाउयसताइं) आर्थत्, शास्ताओं का उल्लेख करता है, और उन्हें चार कोटि का बताता है - क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी जो मोक्ष का निरूपण करते हैं, अपने श्रावकों को आदेश देते हैं और अपने धर्म को सुनाते हैं। यह अन्य तीर्थिक परमार्थ से रहित और हिंसा से विरत नहीं हैं। यह सभी अपने-अपने धर्म के आदि प्रवर्तक बताए गए हैं[१३]। ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं...''। यह प्रावादुक अधर्म स्थान में समाविष्ट है- अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते, तस्स णं इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावाउसताइं भंवतीति अक्खाताइं। विशेष बात यह है कि इस स्थान पर इन प्रावादुकों का विभाजन नहीं बताया। किन्तु सूत्रकृतांग (अध्ययन प्रथम) में स्थान-स्थान पर कई वादों की चर्चा की गई है, वहाँ उपरोक्त चार कोटि के विभाजन भी वर्णित किए गए हैं। सूत्रकृतांग में पंचमहाभूतवाद[१४], (पंच-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महाभूत को मानने वाले), एकात्मवाद[१५] (एक आत्मा को समस्त लोक में, नाना रूपों में व्याप्त देखने वाले), तज्जीवतच्छरीरवाद[१६] (शरीर के विनाश होते ही देही (आत्मा) का विनाश हो जाता है, ऐसा मानने वाले), अकारकवाद[१७] आत्मा स्वयं न कोई क्रिया करती है, न करवाती है, ऐसा मानने वाले)[१८], आत्मषष्ठवाद[१९] (इस जगत् में पाँच महाभूतों के अतिक्ति छठी आत्मा है, आत्मा और लोक शाश्वत है, ऐसा मानने वाले)[२०], क्षणिकवाद[२१] (पांच स्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) को क्षणिक मानने वाले)[२२] (चार धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) से भिन्न आत्मा नहीं हैं)[२४], नियतिवाद[२५] (अर्थात् नियति-ही संगत है, सभी जीव पृथक-पृथक हैं, सुख दुःख भोगते हैं, और एक शरीर को छोड़ दूसरे में चले जाते हैं, यही नियति है, ऐसा मानने वाले)[२६] अज्ञानवाद[२७] (अपने मत की प्रशंसा करते हुए, दूसरे के मत की निन्दा करने वाले, संसार में दृढ़ता से जकड़े रहने वाले), कर्मोपचय निषेधवाद[२८] (कर्म की चिन्ता से रहित, जन्म-मरण रूप संसार अथवा दुःख की वृद्धि करने वाले)[२९], जगत्-कर्तृत्ववाद[३०] (लोक रचना के सम्बन्ध में सात मतों को मानने वाले - उदाहरण के लिए प्रकृति ने लोक बनाया, ईश्वर ने लोक बनाया, अण्डे से लोक उत्पन्न हुआ, आदि आदि[३१]), लोकवाद[३४] (लोक को अनन्त, शाश्वत मानने वाले) का वर्णन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए उपरोक्त सभी वादों का खण्डन किया गया। पुनः चार सिद्धान्तों का उल्लेख कर उसके भेद भी बताए -

चत्तारि समोसरणाभिमाणि पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव[३५]।

अज्ञानवादी वे हैं, जो संशय युक्त हैं, मिथ्या भाषण करते हैं, और सत् तथा असत् का भेद नहीं जानते। निर्युक्तिकार इसके ६७ भेद बताते हैं। सत्य को असत्य, असाधु को साधु बताने वाले, पूछने पर जो विनय से मोक्ष (स्वर्ग) प्राप्ति के उपाय बताते हैं, विनयवादी कहलाते हैं। निर्युक्तिकार इसके ३२ भेद बताते हैं। जीव, उसकी क्रिया, आत्मा, कर्मबंध, कर्मफल आदि नहीं मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। निर्युक्तिकार इसके भी ८४ भेद बताते हैं। इन तीनों का ही पूर्णरूप से खंडन किया गया है। इस प्रसंग से भगवतीसूत्र में वर्णित **पउट्टरिहारवाद** उल्लेखनीय है। डा० पाण्डेय[३६] ने इसकी व्याख्या करते हुए अर्थ बताया- पहले से प्रवृत्त अथवा प्रारब्ध देहान्तर का धारण। इसे अक्रियावाद के समीप ठहराया है। क्रियावादी वे हैं, जो जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, निर्युक्तिकार इसके भी १८० भेद बताते हैं। इसे ऐकान्तिक क्रियावादी बताते हुए निर्युक्तिकार सम्यक् क्रियावाद की व्याख्या करते हैं, जिसके अनुसार लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों है। जीव अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता है। संसार दुस्तर है और तीर्थंकर ही क्रियावाद के मार्गदर्शक हैं। क्रियावादियों की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें प्रव्रजितों एवं मुनियों से दीक्षा लेने या उनके पास रहने की बात करते हैं। क्रियावाद के ज्ञाता को आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद का ज्ञाता भी बताते हैं।[३७] इतनी प्रशंसा के बावजूद भी विद्या और आचरण से मोक्ष प्राप्ति (विज्जाचरणं पमोक्खं) बताई गई है।

इन वादों के अतिरिक्त भी जैन साहित्य में कुछ मत-मतान्तरों की चर्चा यत्र-तत्र दिखाई देती है। उदाहरण के लिए[३८] **बहुरतवाद** (जिनके अनुसार कार्य की निष्पन्नता बहुत समयों में होती है, अतः क्रियमाण को कृत नहीं कहा जा सकता, जिसके प्रवर्तक जमालि थे), **जीवप्रादेशिकवाद** (एक प्रदेश भी कम होने से जीव, जीव नहीं कहा जा सकता, वह एक प्रदेश भी वस्तुतः जीव है, ऐसा मानने वाले, इसके प्रवर्तक तिष्यगुप्ताचार्य थे), **अव्यक्तवाद** (सारे जगत् को अव्यक्त मानने वाले, इसके प्रवर्तक आचर्य आषाढ़ माने गए), **सामुच्छेदिकवाद** (जिनके अनुसार नारक आदि भावों (प्रत्येक पदार्थ) का सम्पूर्ण विनाश होता है, इसके प्रवर्तक अश्वमित्र माने जाते थे), **द्वैक्रियवाद** (शीतलता और उष्णता दोनों एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ होती है, ऐसा मानने वाले, इसके प्रवर्तक गंगाचार्य थे), **त्रैराशिकवाद** (जो जीव, अजीव और नोजीव अर्थात् जो जीव भी नहीं, ऐसी तीन राशियों को मानने वाले, जिसके प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त थे), **अबद्धिकवाद** (कर्म जीव के साथ बंधता नहीं, मात्र साथ रहता है, ऐसा मानने वाले, गोष्ठामाहिल इसके प्रवर्तक थे)। इनमें से बहुरतवाद और जीव प्रादेशिकवाद को महावीर के समकालीन बताया गया और शेष पाँचों को महावीर निर्वाण के बाद तक बताया गया। इन्हें निह्नव कहा गया, जिनमें से जमालि, रोहगुप्त, गोष्ठामाहिल के अतिरिक्त अन्य सभी जैन संघ में सम्मिलित हो गए, किन्तु यह तीन पृथक बने रहे, और इनकी परम्परा समाप्त हो गई। सातों के साथ-साथ विवरण यह सिद्ध करते हैं, कि सभी की परम्परा महावीर के समय प्रचलित रही होगी।

सभी दर्शनों को असत्य और मिथ्याभाषी कहते हुए जैन साहित्य में अन्य वादों की सूची में **ईश्वरकर्तृत्ववाद** (यह जगत् ईश्वर ने बनाया है, ऐसा मानने वाले) और विष्णुमयवाद (विण्हुमयं कसिणमेव य जगं ति केइ) का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[३९] यही नहीं, मिथ्या दृष्टियों द्वारा रचित शास्त्र को भी जैन साहित्य नो आगमभावश्रुत (विपरीत बुद्धि और भाव से रचित शास्त्र) कहता है, यथा- भारहं, (महाभारत), रामायणं, भीमासुरूक्कं (भीमासुरोक्त- जैनेतर- अंगविद्या का शास्त्र), कोडिल्लयं (अर्थशास्त्र), घोड़मुहं (घोट मुख, अश्वादि पशुओं का वर्णन करने वाला शास्त्र), सगडभद्दिआभो (शकटभद्रिका, शकट व्यूह के रूप में सैन्य रचना की विधि बताने वाला शास्त्र), कप्पासियं (कार्पासिक-कपास से वस्त्र बनाने की विधि बताने वाला), नागसुहुम (नागसूक्ष्म-सर्प आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र), कणगसत्तरी (कनकसप्तमी सोने आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र), वहसेसियं (वैशेषिक), बुद्धवयणं (बुद्धवचन), वेसियं (वैशिक- कामशास्त्र, व्यवसाय का शास्त्र), कावलिं (कपिल का संकाय), लोययय (लोकायत- बृहस्पति रचित चार्वाक), सट्ठितंतं (षष्ठितंत्र-सांख्य), माढरं (माठर शास्त्र) पुराणं (पुराण), वागरणं (व्याकरण), नाडगादि (नाटक आदि), बावतरि कलाओं (बहतर कलाएँ), चत्तारि य वेदा संगोवंगा (सांगोपांग चार वेद)[४०]।

इसके अतिक्ति महावीर के विरोधी तीर्थिकों (अन्य यूथिक) का उल्लेख भगवतीसूत्र में भी प्राप्त होता है। यहाँ राजगृह में श्रावकों के साथ इन तीर्थिकों के विवाद का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ इन्हें कालोदायी, शैवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्भोदय, अन्य पालक, शैलपालक, शंखपालक, सुहस्ति, गाथापति[४२] कहा गया। इनमें से नामोदय को विद्वान[४३] आजीवकोपासक बताते हैं, और कालोदायी, बौद्ध उपासक[४३] प्रतीत होता है। शैलपालक (पर्वतों से सम्बन्धित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा रहने वाले) शैवालोपासक (शैवाल से सम्बन्धित), सुहस्ति (हस्ति से सम्बन्धित), शंखपालक (सांख्य से सम्बन्धित, गाथापति (गाथा से सम्बन्धित) आदि कुछ समीकरण शब्दों की व्याख्या अवश्य कर सकते हैं। भगवतीसूत्र में महावीर के साथ जीव, लोक, मोक्ष सम्बन्धी विवाद करने वाले यह तीर्थिक भी दार्शनिक प्रतीत होते हैं। यद्यपि सिद्धान्ततः यह सभी दर्शन जीवन के प्रश्नों और उसके समाधान में एक दूसरे से सम्बद्ध भी प्रतीत होते हैं। अन्य तीर्थिकों की सूची में ही कुछ उल्लेख और प्राप्त होते हैं जिन्हें विषयभोगों में लीन कहा गया। उदाहरण के लिए आरण्णिया (आरण्यक), आवसहिया (आवसयिक) आवास बना कर रहने वाले), गामंतिया (ग्रामन्तिक-ग्राम में डेरा बनाकर रहने वाले), कण्हुईराहस्सिया (गुप्त स्थानों में रहने वाले)[४४]। सभी प्रावादुकों को अधर्मस्थान में समाविष्ट बताते हुए अधर्मस्थान में मनुष्यों का भी उल्लेख किया गया, जो अधार्मिक, अधर्मिष्ठ, पापयुक्त कर्मों से अपनी जीविका उपार्जित करते हैं।[४५] धर्मस्थान में अनगार (गृहत्यागी) अपरिग्रही, धर्मशील, रागादि से रहित श्रमण पर्याय का पालन करते हैं।[४६] इसके पश्चात् मिश्र पक्ष[४७] (मीसगस्स विभंगे) का भी उल्लेख करते हैं, जिसमें ऐसे मनुष्य होते हैं, जो श्रमणोवासगा) होते हैं, और निग्रंथ प्रवचन का उल्लंघन नहीं करते हैं। इस मार्ग को सर्वदुःखों का नाश करने वाला एकत्त सम्यक् एवं उत्तम कहा गया।[४८]। इन विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म और मिश्र स्थान ही उचित माना गया, बाकी सभी वाद मिथ्या थे।

धर्म और मिश्र स्थानों में ही बार-बार परिव्राजकों, वानप्रस्थी तापसों, प्रवजित श्रमणों, ब्राह्मण और क्षत्रिय परिव्राजकों और श्रमणों का उल्लेख जैन साहित्य करता है। इनके साथ-साथ मनुष्य रूप में उत्पन्न कुछ निश्चित आहार करने वाले, गौतम (ठिगने बैल के द्वारा प्रदर्शन कर भिक्षा माँगने वाले), गौव्रतिक, (गौसेवा करने वाले) गृहधर्मी (गृहस्थ),धर्मचिन्तक, अविरुद्ध (विनयाश्रित भक्तिमार्गी), विरुद्ध (अक्रियावादी), वृद्धतापस श्रावकों को मृत्यु के उपरान्त वानव्यन्तर देवपद प्राप्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[४९] फिर वानप्रस्थों की सूची में पैंतीस वानप्रस्थी तापसों[५०] का उल्लेख औपपातिक सूत्र तथा अड़तीस वानप्रस्थी तापसों का उल्लेख भगवतीसूत्र[५१] करता है। सर्वप्रथम दोनों का सम्मिलित उल्लेख देखते हैं- (१) होत्तिया (होतृक, हवन करने वाले), (२) पोत्तिया (पोत्रिक, वस्त्रधारी), (३) कोत्तिया (कोतृक, भूमि पर शयन करने वाले), (४) जण्णई (यज्ञकी, यज्ञ से जीवन उपार्जन करने वाले), (५) सड्ढई (श्राद्धकि), (६) थालई (स्थनकि, भोजनपात्र रखने वाले), (७) हुंबउट्ठा (कुंडिकाधारी), (८) दंतुक्खलिया[५२] (दंतोवोलूखलिक, दांतों के द्वारा चबा कर खाने वाले), (९) उम्मज्जगा (उन्मजुक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जल के ऊपर तैर कर स्नान करने वाले), (१०) सम्मज्जगा (समज्जक, बारबार डुबकी लगा कर नहाने वाले), (११) निमज्जगा (निमज्जक, पानी में थोड़ी देर बैठकर स्नान करने वाले), (१२) संपक्खाला (संप्रक्षालक, मिट्टी रगड़कर स्नान करने वाले), (१३) दक्खिणकूलगा (दक्षिणकूलक, गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले), (१४) उत्तरकूलगा (उत्तर कूलक गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले), (१५) संखधमगा (शंखध्मायक, शंख बजाकर भोजन करने वाले), (१६) कूलधमगा (कूलध्मायक, नदी के किनारे शब्द कर भोजन करने वाले), (१७) मिगलुद्धगा - (मुग-लुब्धक, मृग का माँस खाने वाले), (१८) हस्तितापस- हाथी का माँस खाकर जीवन बिताने वाले), (१९) उद्दंडगा (उदण्डक, दण्ड को ऊँचा कर घूमने वाले), (२०) दिसापोक्खिणो (दिशाप्रोक्षी, दिशाओं में जल छिड़क कर फल-फूल एकत्र करने वाले), (२१) वाकंवासिणो (वृक्ष की छाल को वस्त्र की तरह धारण करने वाले), (२२) बिलवासिणो (गुफाओं में रहने वाले), (२३) वेलंवासिणो (समुद्र के तट पर रहने वाले), (२४) जलवासिणो (पानी में निवास करने वाले), (२५) रुक्खमूलिया (वृक्ष के खोह में निवास करने वाले), (२६) अंबुभकिक्खणो (जल का आहार करने वाले), (२७) वाउभक्खिणो (हवा का आहार करने वाले), (२८) सेवालभक्खिणो (शैवालभक्षी, शैवाल (वृक्ष) का आहार करने वाले), (२९) मूलाहारा (मूलाहार-जड़मूल का आहार करने वाले), (३०) कंदाहारा (कन्द का आहार करने वाले), (३१) पत्ताहारा (पत्राहार, पत्तों का आहार करने वाले), (३२) पुष्पाहार (पुष्प का आहार करने वाले), (३३) बीयाहारा (बीजाहार, बीज का आहार करने वाले), (३४) परिसडियकंद मूलतय पत्तपुष्पफलाहार (अपने आप गिरे हुए, पृथक किए कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प और फल का आहार करने वाले), इसके अतिरिक्त औपपातिक सूत्र, (३५) तयाहार (वृक्ष की छाल का आहार करने वाले), और भगवतीसूत्र में ... (३६) जलाभिषेक - किड्हिनगात्रा (स्नान के बाद आहार न लेने वाले), (३७) अंवुवासिनस (जल में रहने वाले), (३८) वायु-वासिनस (वायु में अथवा पर रहने वाले) के उल्लेख प्राप्त होते हैं। पुनः भगवतीसूत्र के इसी शतक में उर्ध्वकंडूयक (नाभि के ऊपर के अंग को खुजलाने वाले) और अधः कंडूयक (नाभि के नीचे के अंगों को खुजलाने वाले) तापसों का उल्लेख है। यह सभी तापस हस्तिनापुर के राजा शिवराज को गंगा के तट पर मिले। दिशाप्रोक्षक तापस से शिक्षा अंगीकार कर कठिन तप किया और विभंग ज्ञान प्राप्त कर, शिवराज वापस हस्तिनापुर पहुँचे। अपने ज्ञान और दर्शन का उपदेश हस्तिनापुर में देने लगे। इसी बीच महावीर स्वामी हस्तिनापुर पहुँचे, हस्तिनापुरवासियों ने शिवराज ऋषि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथन महावीर को बताया और महावीर ने उसे मिथ्या घोषित किया। अन्ततः शिवराज ऋषि महावीर की शरण में चले गए, और कठिन तपस्या करते हुए भगवान के भक्त बनने के बाद सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त हुए। बौद्ध साहित्य भी ऐसे आहार, व्रत लेने वाले तपस्वियों का उल्लेख करता है। आधुनिक काल में भी कुम्भ आदि में एकत्रित हुए साधु संन्यासी इन वानप्रस्थी तापसों[५४] की याद दिलाते हैं।

परिव्राजक भ्रमणशील साधुओं का वर्ग था, जो घूम-घूम कर अपने ज्ञान का प्रचार भी प्रवचनों के माध्यम से किया करता था। बौद्ध साहित्य और धर्मसूत्रों में भी इनके विवरण प्राप्त होते हैं। परिव्राजकों (परिव्वाया) की सूची बताते हुए औपपातिक सूत्र लिखता है - संखा (सांख्य); जोगी (योगी); कविला (महर्षि कपिल की परम्परा वाले); भिउव्वा (भृगु ऋषि की परम्परा वाले); हंसा (केवल भिक्षा के लिए गाँव में आने वाले), परमहंसा[५५], (नदियों के किनारे रहने वाले, अंत समय में नग्न रहने वाले), बहुउदगा (प्राप्त भोगों को स्वीकार करने वाले) (बहुदक), कुलिव्वया (कुटिचर) (घर में रहते हुए भी माया, मोह, लोभ, अहंकार का त्याग करने वाले) नामक चार प्रकार के यति; कन्हपरिव्वाया (नारायण की भक्ति में लगे कृष्ण परिव्राजक)।[५६] कपिल मुनि के अनुसरण करने वाले चरक का उल्लेख भी जैन साहित्य[५७] करता है। बौद्ध साहित्य जैन साहित्य की तुलना में परिव्राजकों का उल्लेख अधिक करता है, उनके 'आरामों' (निवास स्थल) के भी कई उल्लेख बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं, बौद्ध साहित्य परिव्राजक भिक्षुओं के नाम का उल्लेख करता है तो जैन साहित्य तुलनात्मक दृष्टि से परिव्राजकों के अधिक प्रकार बताता है।

औपपातिक सूत्र इसी सन्दर्भ में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों- कर्ण, करकण्ट, अम्बड, पाराशर, कृष्ण, द्वैपायन, देवगुप्त और नारद का उल्लेख करता है। इनमें से अम्बड का सन्दर्भ बार-बार प्राप्त होता है। यहाँ तक कि दीघनिकाय में अम्बट्ठ सुत्त भी अम्बड की लोकप्रियता बताता है। यहां विशेष यह है कि क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख करते हुए शीलधी, शशिधर, नग्नक, भग्नक, विदेह, राजराज, राजराम और बल का नाम भी प्राप्त होता है। और भी विशेष बात यह है कि दोनों ही वेद, इतिहास, व्याकरण, निघण्टु आदि के ज्ञाता बताए गए हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय परिव्राजकों की परम्परा तो उपनिषदों में भी प्राप्त होती है। सम्भवतः ये परिव्राजक संसार छोड़ने वाले साधु न थे, वे घूम-घूम कर बस्तियों के पास ही रहते थे, जिनसे कि इनका जीविकोपार्जन होता रहे और बदले में ये समाज को ज्ञान दिया करते थे। इन परिव्राजकों को ज्ञान होना आवश्यक था। यही कारण है कि औपपातिक सूत्र[५८] इन्हें चारों वेदों, इतिहास, निघण्टु का ज्ञाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताता है। इन्हें वेदांगों में परिपक्व बताता है। ये परिव्राजक दान, शौच, आचार शास्त्र का पालन करते हुए विचरण करते थे। इन्हें विशेष प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता था। परिव्राजकों के लिए जिन नियमों का प्रावधान जैन सूत्र बतलाते हैं, वह भी श्रमणों के नियमों से कम नहीं हैं। विपरीत परिस्थितियों में भी ये परिव्राजक तप छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। महावीर स्वामी के सम्पर्क में आने पर भी यह परिव्राजक श्रमणोपासक ही बने रहेंगे। अम्बड के प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि कठिन तप, साधना के बाद भी परिव्राजक रहते हुए वह श्रमण नहीं बन पाया और दूसरा जन्म लेकर साधना करनी पड़ी, तब श्रमण परम्परा में दीक्षित हुआ।[५९]

प्रव्रजित श्रमणों का उल्लेख भी जैन साहित्य स्थान-स्थान पर करता है। जो मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं और प्रव्रजित होकर धीरे-धीरे अनेक रूप में श्रमण बन जाते हैं, जैसे कंदप्पिया-कान्दर्पिक (हास परिहास करने वाले), कुक्कुइया-कौकुचिक (भाँडों की तरह कुत्सित चेष्टा करने वाले), मोहरिया-मौखरिक (ऊटपटांग बोलने वाले), गीयर इप्पिया, गीतरतिप्रिय (गाने में अत्यधिक रुचि रखने वाले), नच्चणसीला नर्तनशील (नाचने वाले)[६०]; आयरिय-पडिणीया प्रत्यनीक (आचार्य विरोधी), उवज्झायपडिणिया-उपाध्याय-प्रत्यनीक (उपाध्याय के विरोधी), कुलकडिणी-कुल प्रत्यनीक (कुल के विरोधी), गणपडिणीया- गणप्रत्यनीक (गण के विरोधी), आयरिय उवज्झायाणं- अयसकारगा आचार्य और उपाध्याय के अयशस्कर अपयश करने वाले), अवण्णकारगा-अवर्णकारक (अवर्णकारक, अवर्णवाद बोलने वाले), अकित्तिकारया-अकीर्तिकारक (निन्दा करने वाले)[६१]; अत्तुकोसिया-आत्मोत्कर्षक अपना उत्कर्ष दिखाने वाले, परपरिवाइया- परपरिवादक (दूसरों की निन्दा करने वाले), भूइकम्मिया- भूतिकर्मिक (ज्वर, उपद्रव आदि बाधाओं को शान्त करने हेतु भस्म आदि देने वाले), भुज्जोभुज्जो कोउयकारणा-कौतुकारक (भाग्योदय आदि के निमित्त चमत्कारिक बाते करने वाले)[६२]।

इनके अतिक्ति बालपंडित[६३] (बालपंडिय- सद्-असद् विवेक से रहित होते हुए भी स्वयं को पंडित मानने वाले); चण्डिदेवग (शिखाधारी), दगसोयरिय (किसी के द्वारा छुए जाने पर चौसठ बार स्नान करने वाले) धम्मचिंतक (धर्मग्रंथ पढ़ने वाले), गियरै (संगीत और प्रेम में रुचि रखने वाले), गोम (छोटे बैल को कोडियों से सजा, भिक्षा माँगने वाले, चावल खाने वाले), गौवैया (गाय की तरह घास व पत्ते खाकर, गाय के पीछे-पीछे घूमने वाले), कम्मारभिक्खु (मूर्ति लेकर शोभायात्रा निकालने वाले), कुच्चिय (मूँछ, दाड़ी रखने वाले), परपरिवाइय (अन्य भिक्षुओं की निन्दा करने वाले), पिन्डोलग (गंदे रहने वाले), ससरक्ख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(नंगे रहने वाले, हाथ का चुल्लू बनाकर भिक्षा लेने वाले), वणिमगो (अधिक विनयी बन भिक्षा माँगने वाले, जो अपने आपको शाक्य का शिष्य बताते हैं), वारिभद्रक (पानी और शैवाल (काई) पर निर्भर रहने वाले, जो सारे समय नहाने और धोने में लगे रहते हैं), वारिखल (अपने पात्र को मिट्टी से बारह बार धोने वाले)[६४] आदि अन्य साधुओं के वर्ग का विवरण प्राप्त होता है। जैन साहित्य में इन तीर्थिकों के लिए 'पासंड' शब्द का भी प्रयोग किया गया। अनुयोगद्वार सूत्र में जिनेश्वर की आज्ञा न मानने वाले, आवश्यक पदों को न समझने वाले को कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक की सूची में रखा गया और उन पाषण्डों को कुतीर्थिक कहा गया। जैसे चरग (चरग-समुदाय रूप में एकत्रित हो भिक्षा माँगने वाले), चीरिग (चीरिक-चिथड़ों को पहनने वाले), चम्मखंडिय (चर्मखंडिक- चमड़े के वस्त्र पहनने वाले), भिच्छुंहग (भिक्षोण्डक-भिक्षा से प्राप्त अन्न से उदरपूर्ति करने वाले), पंडुरंग (पाण्डुरंग, शरीर पर भस्म का लेप लगाने वाले), गौतम (गौतम-बैल को कोड़ियाँ पहना कर भिक्षा माँगने वाले), गोव्वतिय (ग्रोव्रतिक-गोचर्या का अनुकरण करने वाले), गिहिधम्म (गृहिधर्मा- गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर मानने वाले), धम्मचिंतग (धर्मचिंतक-धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहार करने वाले),अविरुद्ध, विरुद्ध, कुवड- सावग[६५] (जिनका उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है)। अनुयोगद्वार सूत्र में ही आगे प्रश्न किया गया, कि 'से किं तं पासंडनामे'? अर्थात् पाषण्डनाम का क्या स्वरूप है? और उत्तर में पाषण्ड नाम के स्वरूप में श्रमण, पाण्डुरंग, भिक्षु, कापालिक, तापस और परिव्राजक के स्वरूप[६६] का उल्लेख किया गया। बौद्ध साहित्य में उस समय 'जटिल' ब्राह्मण तपस्वियों का उल्लेख भी कई स्थानों में मिलता है, किन्तु जैन साहित्य में इसका सन्दर्भ (या नाम) नहीं प्राप्त होता है।

इतने विस्तार से भिन्न-भिन्न प्रकार के धार्मिक व दार्शनिक विभाजनों के बाद भी जैन साहित्य बारबार श्रमण और ब्राह्मण (समण-माहण) का उल्लेख करता है। इन्हें कई बार गृहस्थों की भाँति चित्त, अचित्त, काम, भोगों में लिप्त भी बताया गया।[६७] चार प्रकार के ब्रह्मण श्रमणों की कथा मज्झिमनिकाय के निवापसुत्त[६८] में भी प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त मुक्त, सिद्ध, अनगार श्रमण अथवा निग्रंथ श्रमणों का विवरण तो जैन साहित्य के विवरणों का मुख्य केन्द्र ही है।

सभी वर्गों का उल्लेख करते हुए १५ संज्ञा सूत्रों[६९] के द्वारा-

१. लोक और अलोक के सन्दर्भ में सर्वशून्यतावादियों का खण्डन

२. जीव और अजीव के सन्दर्भ में पंचमहाभूतवादियों का खण्डन

३. धर्म और अधर्म के सन्दर्भ में स्वभाववादियों का खण्डन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. बंध और मोक्ष के सन्दर्भ में सांख्यवादियों का खण्डन
५. पुण्य और पाप के सन्दर्भ में अन्य कई तीर्थिकों का खण्डन
६. आश्रव और संवर के संदर्भ में अन्य कई तीर्थिकों का खण्डन
७. वेदना और निर्जरा के संदर्भ में अन्य कई तीर्थिकों का खण्डन
८. क्रिया और अक्रिया के सन्दर्भ में सांख्यवादियों और बौद्धों का खण्डन
९. क्रोध, मान, माया, लोभ के सन्दर्भ में अन्य कई तीर्थिकों का खण्डन
१०. राग और द्वेष
११. देव और देवी
१२. नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, चार गतियाँ
१३. सिद्धि, असिद्धि और आत्मा की सिद्धि
१४. साधु और असाधु
१५. कल्याण और पाप के सन्दर्भ में उपरोक्त सभी दर्शनों को नास्तिक मिथ्यात्वी और अनाचारसेवी बताया।

यदि दर्शन और श्रमण परम्परा दोनों को एक साथ रखें, तो जैन साहित्य में सर्वाधिक उल्लेख है, मक्खलिगोशाल, संजय, सांख्य, ब्राह्मण, हस्तितापस, आजीवक एवं अम्बड परिव्राजक का। इन सभी के साथ महावीर स्वामी के वाद-विवाद का उल्लेख करते हुए निग्रंथ परम्परा की श्रेष्ठता घोषित की गई।

इस प्रकार इस लेख का योगदान यह है कि जो तत्कालीन सम्प्रदायों के नाम यत्र-तत्र प्राप्त हो रहे थे, उन्हें एक स्थान पर एकत्र किया गया। यदि वर्णित नामों की गिनती की जाए तो यह लगभग एक सौ पचास के आस-पास ठहरती है। सम्भावना यह हो सकती है, कि जैन भिक्षु तत्कालीन सम्प्रदायों के अधिक सम्पर्क में आए होंगे, और जितने अधिक से उनका धार्मिक मत विभेद हुआ, उनका उन्होंने उल्लेख किया। अधिक से अधिक संख्या, उनके अधिक से अधिक प्रभाव को बताती है। यह भी सम्भव है, आज के वैश्यों की तरह अधिक से अधिक गणनाएँ बताने में जैन साहित्य भी रुचि रखता हो। सभी वर्ग वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड का विरोधी प्रतीत होता है, पर इनमें सबसे प्रबल धारा बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों की थी। यह विरोध किन्हीं भी परिस्थितियों में ब्राह्मण वर्ग का नहीं था। जैन साहित्य बार-बार श्रमण और ब्राह्मण (माहण) को एक दूसरे के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नजदीक बताता है। माहण और समण-माहण दोनों ही वर्ग ऐसा था, जिसके प्रति महावीर शंकालु होने के बावजूद श्रद्धा भाव रखते थे। धर्म विचार के सन्दर्भ में श्रमण एवं ब्राह्मण को एक सा विचार रखने वाला बताया गया।[७०] इन स्थानों पर श्रमण ब्राह्मण (समण माहण) एक साथ लिखा हुआ प्राप्त होता है, दूसरे स्थानों पर दोनों शब्द अलग-अलग (समणं वा माहणं वा)[७१] वर्णित हैं। कई विवरण ऐसे भी प्रतीत होते हैं, मानो 'समण' शब्द 'माहण' की उपाधि रूप में प्रयुक्त हुआ हो (समण-माहण सारंभा सपरिग्गाहा...)।[७२] जिस प्रकार निग्रंथ श्रमण के लिए समणाणं णिग्गंथाणं[७३] शब्द प्रयुक्त हुआ, उसी प्रकार ब्राह्मण श्रमण के लिए समण माहणा शब्द प्रयुक्त हुआ था। कहने का तात्पर्य है कि वे ब्राह्मण जो श्रमण थे, और वे यदि श्रमण पयार्य का पालन करते रहे तो धीरे-धीरे निग्रंथ श्रमण की श्रेणी में आ जाएंगे। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण का वर्चस्व अभी-भी बना हुआ था, उनके ज्ञान ने महावीर को भी अपनी ओर आकर्षित किया था। वे ब्राह्मण जो तप के मार्ग पर चलने वाले थे, श्रमण पयार्य का पालन कर रहे थे, वैदिक ज्ञान (कर्मकाण्ड नहीं), भाषा (प्राकृत, मागधी, अर्धमागधी आदि) से सम्पन्न थे, उन्हें महावीर स्वामी के उपदेशों ने आकर्षित किया। जैन धर्म के रूप में उन्हें अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक विकास का अवसर प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि महावीर के प्रारंभिक गणधर ब्राह्मण थे। जिन्होंने महावीर के उपदेशों को संग्रहीत किया, और भाषा में बांधा। दूसरी ओर जैन धर्म के विकास और प्रसार में भी योगदान दिया। आज भी अनेकों जैन मुनि ब्राह्मण वर्ग के हैं।

अपनी धार्मिक नैतिक विशेषताओं के कारण भी श्रमण और ब्राह्मण एक दूसरे के नजदीक थे, न कि विरोधी।[७४] ऐसी ही अवधारणा महासीहनाद सुत्त[७५] के विवरणों से प्राप्त होती है।

प्राप्त विवरणों से स्पष्ट है कि सभी भिक्षुओं के लिए सबसे आवश्यक था- 'तप'। भिक्षुओं के वर्गों का विभाजन भी बाह्य तप के आधार पर ही दृष्टिगत होता है। आन्तरिक तप के माध्यम से अधिकांशत: वर्ग मोक्ष के लिए तत्पर था, जो मोक्ष के लिए तत्पर नहीं था, वह भिन्न प्रकार के जादू-टोने-तप आदि करता हुआ एक चिन्तक न होकर सामान्य (आज के ढोंगी बाबाओं की तरह) साधु था, जिसने जीविकोपार्जन के लिए यह मार्ग अपनाया था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व का भारत आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से भी एक परिवर्तित स्थित का युग था। लोह का प्रयोग, कृषि योग्य भूमि का विस्तार, व्यापार का प्रसार, राज्यों और महाराज्यों के उदय ने समाज के बहुत बड़े वर्ग को धर्म और दर्शन से जोड़ा। कुछ वर्ग अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता के लिए परिव्राजक अथवा तापस बन गये, और इसमें उसकी भौगोलिक स्थिति ने भी मदद की। जैसे जल में रहने वाले ही कई प्रकार के तापस धर्म तो अपना लिये, पर अपनी जन जातीय परम्पराएँ नहीं छोड़ पाए, जैसे हस्तितापस एवं मिगलुद्धगा आदि। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हुए लोगों को यह परिव्राजक अपने उपदेशों से आसानी से लुभा लेते थे। मुनि, यति, परिव्राजक, तापस, श्रमण, ब्राह्मण सभी परम्पराएँ वैदिक युग में भी विद्यमान थीं, बदलते परिवेश का इन्हें लाभ मिला। संख्या अधिक से अधिक बता कर जैन साहित्य ने सभी मिथ्यावादियों पर जैन निग्रंथवाद की स्थापना कर अपनी श्रेष्ठता घोषित की। दूसरी ओर कुछ नामों की व्याख्या शोध का विषय हो सकती है। उदाहरण के लिए हस्तितापस। हस्तितापस वह भिक्षु वर्ग प्रतीत होता है, जिसके पास संपत्ति रूप में (दान में ही प्राप्त) हाथी अथवा हाथियों का समूह रहा होगा, और जो श्रेष्ठ, गण, राजकीय प्रश्रय में रहने वाले बौद्ध और जैन भिक्षुओं के लिए प्रतिस्पर्धा का वर्ग रहा होगा।

पुनश्चः

महावीर कालीन मत-मतान्तरों का विवरण यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि क्या उपयोग में लाए गए साक्ष्य तत्कालीन हैं? जिस प्रकार वैदिक साहित्य का संकलन बहुत बाद में हुआ माना जाता है, उसी प्रकार जो उपलब्ध जैन साहित्य है, उसका संकलन 'वल्लभी वाचना' के परिणाम स्वरूप हुआ है। परम्परानुसार महावीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष बाद वल्लभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा जो मुनि सम्मेलन किया गया, उसमें लगभग ४५-४६ ग्रंथों का संकलन किया गया, जो आज भी प्रचलित हैं। जो ग्रंथ इस लेख में साक्ष्य रूप में उपयोग में लिए गए, वे अर्धमागधी भाषा के ग्रंथ हैं।भाषाशास्त्रियों के मतानुसार यह ग्रंथ द्वितीय शताब्दी ईस्वी के बाद की रचनाएँ हैं। इनमें भी सूत्रकृतांग भाषा की दृष्टि से प्राचीनतम प्रतीत होता है, और अनुयोगद्वार सूत्र काफी परवर्ती। यदि कालक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो यह विवरण लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी से लेकर सातवी-आठवीं शताब्दी ईस्वी के सिद्ध हो सकेंगे। किन्तु विशेष बात यह है कि अधिकांश विवरण गौतम गणधर और महावीर स्वामी के बीच हुए वार्तालाप और तत्कालीन तीर्थिकों का उल्लेख करते हैं। अन्य जो तत्कालीन सामग्री राजनैतिक जीवन की प्राप्त होती है, उसे इतिहासकार छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का ठहराते हैं, तो इस दृष्टि से अन्य विवरणों को भी छठी शताब्दी ईस्वी का माना जा सकता है। अन्य साक्ष्य, जैसे कि बौद्ध साहित्य आदि भी इन विवरणों का स्थान-स्थान पर समर्थन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतज्ञता-ज्ञापन

लेख के लिए दिए गए महत्त्वपूर्ण सुझावों के लिए मैं प्रो० राम स्वरूप जी मिश्र (भूतपूर्व अध्यापक, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) एवं प्रो० कमल चन्द सोगानी (भूतपूर्व अध्यापक, दर्शन विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर) के प्रति अपनी कृतज्ञता-ज्ञापित करती हूँ।

सन्दर्भ :

१. **सुत्तपिटके-दीघनिकायो**-१, सीलक्खन्धवग्गपालि, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, १९९३, पृष्ठ २, ३; नालन्दा देव नागरी-१ पालि सिरीज, दीघनिकाय, भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ६.

२. **सुत्त पिटके**, उपरोक्त, पृष्ठ १४९.

३. **नालन्दा** उपरोक्त, पृष्ठ ४९.

४. **नालन्दा** उपरोक्त, पृष्ठ ६६.

५. *The History and Literature of Buddhism, Calcutta,* १९६२, पृष्ठ १२०.

६. ऊपर वर्णित वादों में यह नाम प्राप्त नहीं है।

७. *A history of pre-Buddhistic Indian philosophy, Delhi,* १९७०, पृष्ठ २७८-२७९; यद्यपि प्रो० गोविन्द चन्द पाण्डे इस मत से सहमत नहीं हैं, *Studies in the Origins of Buddhism, Allahabad,* १९५१, पृष्ठ ३४५।

८. **सुत्त पिटके**, उपरोक्त, **दीघनिकाय**-१, पृष्ठ ५४.

९. **निवापसुत्त**, धर्मानन्द कोशाम्बी, **भगवान बुद्धः जीवन और दर्शन**, इलाहाबाद, १९८२, पृष्ठ ८६ में वर्णित, यह आत्मवादी निश्चित ही जैन अथवा ब्राह्मण मत वाले श्रमण थे।

१०. धर्मानन्द कोशाम्बी, उपरोक्त, पृष्ठ १७५.

११. **कस्सपसिंहनाद सुत्त, दीघ निकाय**, भाग २, पृष्ठ २१०-२२०, रीज़ डेविड्स अनुवाद, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, यहाँ भी सभी भिक्षुओं की बाह्य आचरण का भेद अधिक महत्त्वपूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. **सूत्रकृतांग**, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, जिनागम ग्रन्थमाला, अंक ९०, १९८२, द्वितीय श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ७१७, पृष्ठ १००.

१३. **सूत्रकृतांग सूत्र**, उपरोक्त, द्वितीय श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ७१८, पृष्ठ १००.

१४. **उपरोक्त**, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, सूत्र ७-८, पृष्ठ २०, यद्यपि सांख्य और वैशेषिक भी पंचमहाभूत को मानते हैं, पर सब कुछ नहीं मानते हैं। इसलिए विद्वान इसे लोकायतों का मत मानते हैं।

१५. **उपरोक्त**, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, सूत्र ९-१०, पृष्ठ २३.

१६. **उपरोक्त**, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, सूत्र ११-१२ पृष्ठ २५.

१७. **उपरोक्त**, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, सूत्र १३-१४ पृष्ठ २८.

१८. सांख्य दर्शन की भाँति, इसके अनुसार आत्मा अमूर्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी है।

१९. **सूत्रकृतांग**, उपरोक्त, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन एक, सूत्र १७-१८ पृष्ठ ३५.

२२. बौद्धों के क्षणिकवाद से मेल खाता है जिसके अनुसार पाँचो से भिन्न आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

२३. **सूत्रकृतांग सूत्र**, उपरोक्त, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन एक, सूत्र १८-२६ पृष्ठ ४०.

२४. यह भी क्षणिकवाद का एक रूप है।

२५. **सूत्रकृतांग**, उपरोक्त, प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र १-५ पृष्ठ ४३.

२६. यह वाद आजिवकों के निकट है।

२७. **सूत्रकृतांग**, प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ६-२३, पृष्ठ ४८-५०.

२८. **सूत्रकृतांग**, प्रथम श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र २४-२९, पृष्ठ २५.

२९. बौद्ध धर्म के अक्रियावाद की भाँति।

३०. **सूत्रकृतांग**, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन तीन, सूत्र ५-१०, पृष्ठ ६५-६७.

३१. ऐसे मत उपनिषदों, सूत्रों, स्मृतियों, सांख्य सभी में दृष्टिगत होते हैं।

३२. **सूत्रकृतांग**, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन तीन, सूत्र ११-१२, पृष्ठ ७७.

३३. बौद्ध, आजीवक, वैष्णव परम्परा के निकट प्रतीत होते हैं।

३४. **सूत्रकृतांग**, प्रथम श्रुतस्कंध, चतुर्थ अध्ययन, सूत्र ५-६, गाथा, ८०-८१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. **सूत्रकृतांग**, प्रथम श्रुतस्कंध, बारहवाँ अध्ययन, सूत्र १,२,३,४ गाथा ५३५-५४८.

३६. डॉ० गोविन्द चन्द पाण्डे, **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, लखनऊ, १९७६, पृष्ठ ३५.

३७. **सूत्रकृतांग**, उपरोक्त बारहवाँ अध्ययन, शीलांकवृत्ति पत्रांक २२२ से २२३, पृष्ठ ४०९, गाथा ५४५, विद्वान क्रियावाद को स्वभाववादं के निकट बताते हैं, किन्तु इसमें मत-मतान्तर है।

३८. **औपपातिक सूत्र**, जिनागम ग्रंथमाला, ग्रंथांक १३, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान, पृष्ठ १५५.

३९. **प्रश्नव्याकरण सूत्र**, सन्मति ज्ञानपीठ, १९७३, सूत्र सं० ७, पृष्ठ १५६, द्वितीय अध्ययन।

४०. **अनुयोगद्वार सूत्र**, जिनागम ग्रंथ माला, अंक २८, श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, प्रकाशित, सूत्र, पृष्ठ ३६.

४१. **श्रीभगवती सूत्रम्**, वीराणी स्मारक ट्रस्ट, व्याख्या-श्री कन्हैयालाल जी महाराज, अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानक जैन शास्त्रोद्धार समिति, १९६५, शतक ६, उद्देशक १०; **अभिधान राजेन्द्र** में इन्हें अन्य यूथिकों की सूची में रखा गया है। किन्तु इनका विशेष अर्थ नहीं बताया गया।

४२. जोगेन्द्र चन्द्र सिकदर, **स्टडीज इन द भगवती सूत्र**, प्राकृत जैन इंस्टिट्यूट रिसर्च पब्लिकेशन सिरीज, मुज्जफरपुर, १९६४, भाग प्रथम, पृष्ठ ४५५.

४३. सर मोनियर मोनियर विलियम्स, **अ संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी**, दिल्ली १९७६, पृष्ठ २७७.

४४. **सूत्रकृतांग सूत्र**, द्वितीय श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र सं० ७०६, पृष्ठ ६६.

४५. **सूत्रकृतांग सूत्र**, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ७१३, पृष्ठ ९२.

४६. **सूत्रकृतांग सूत्र**, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ७१४, पृष्ठ ९३.

४७. **सूत्रकृतांग सूत्र**, उपरोक्त, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ७१५, पृष्ठ ९७.

४८. **सूत्रकृतांग सूत्र**, द्वितीय, श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, सूत्र ७१६, पृष्ठ ९८.

४९. **औपपातिक सूत्र**, उपरोक्त, सूत्र संख्या ७३, पृष्ठ १२४.

५०. **औपपातिक सूत्र**, सूत्र संख्या ७४, पृष्ठ १२५.

५१. **भगवती सूत्र**, शतक ११, उद्देशक ९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२. **रामायण**, पंडित पुस्तकालय, काशी, १९५१, अरण्यकाण्ड, षष्ठसर्ग, श्लोक २-६ में भी दंतिलुखलिम् और उन्मज्जक साधुओं का उल्लेख मिलता है। अनेक प्रकार की तपस्या करने वाले मुनियों का उल्लेख मिलता है।

वैखनसा, वालखिल्याः संप्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्मकुट्टाश्चवहतः पत्राहारश्च तापसाः ।।
दन्तोलूखनिलश्चैव, तथैवोन्मज्जकाः परे ।
गात्रशय्या अशय्याश्च तपैवानवकाशिकाः ।।
मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ।।
तथोर्ध्ववासिनो दान्तास्तथार्द्रपटवाससः ।
सजपाश्च तपोनित्यास्तथा पञ्चतपोऽन्विताः ।।
सर्वे ब्राह्मयाश्रिया जुष्टा दृढयोगाः समाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ।।

अर्थात् वैखानस (वानप्रस्थी तापस), बालखिल्य (अंगूठे के बराबर आकार वाले ऋषि), संप्रक्षाल्य (सदास्नानशील), मरीचिप (चन्द्र सूर्य की किरणें पीने वाले), अश्मकुट्ट (पत्थर से शरीर कूट कर आत्मदमन करने वाले), पत्राहार (पत्ते खाने वाले), दन्तोलूखली (दाँतों को उखल बनाकर काम लेने वाले), उन्मज्जक (जल में खड़े होकर तपस्या करने वाले), गात्रशय्य (बैठे-बैठे सोने वाले), अभ्रावकाश (सदा आकाश के नीचे रहने वाले), सलिलहार (केवल जल पीकर रहने वाले), वायुभक्ष (वायु पीकर रहने वाले), आकाश निलय (वृक्ष पर निवास करने वाले), स्थण्डिलशायी (चबूतरे पर सोने वाले), उर्ध्ववासी (पर्वत-शिखर वासी), दान्त (इन्द्रिय दमनशील), आर्द्रपटवासी (गीले वस्त्र पहनने वाले), सजप (सदा जप में रहने वाले), तपोनिष्ठ (सदा वेदाध्ययन में संलग्न), पञ्चतपोऽन्वित (पंचाग्नि तापने वाले), सभी ब्राह्मी श्री से सम्पन्न योग से मन को वश करने वाले हैं...।

५३. **ललितविस्तर** में भी ऐसे साधुओं को हस्तिव्रत कहा गया, **औपपातिक सूत्र**, उपरोक्त प्रस्तावना, पृष्ठ ३१ पर वर्णित।

५४. 'वानप्रस्थी तापस' शब्द भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। यह क्या संन्यासियों से भिन्न है? यह संसार छोड़े हुए संन्यासियों से पहले की सीढ़ी है।

५५. आज भी काशी में नंगे घूमने वाले बाबा परमहंस कहलाते हैं।

५६. **औपपातिक सूत्र**, उपरोक्त, सूत्र संख्या ७६, पृष्ठ १२९.

५७. **अनुयोगद्वार सूत्र**, जिनागम ग्रंथमाला, अंक २८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८७, सूत्र संख्या २१; **भगवती सूत्र**, शतक १, उद्देशक २, सूत्र २५.

❋

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

जैन धर्म के जीवन मूल्यों की प्रासङ्गिकता

दुलीचन्द जैन*

आज सारा विश्व हिंसा, तनाव एवं आतंकवाद से ग्रस्त है। यद्यपि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के आशातीत विकास के कारण मनुष्य को बहुत सारी सुविधाएँ एवं आराम के साधन प्राप्त हुए हैं पर कहीं न कहीं हम कुछ कमी महसूस कर रहे हैं। आज मनुष्य का मन तनाव से ग्रस्त है, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों में संकुचितता आई है तथा मनुष्य और अधिक स्वकेंद्रित हो गया है। भौतिक संसाधनों के विकास के साथ मनुष्य के हृदय का भी विकास होना चाहिये था पर वह हुआ नहीं। अत: विश्व के श्रेष्ठ चिन्तक एवं विचारक इस बात पर गम्भीरता से विचार करने लगे हैं कि वास्तविक सुख, शान्ति एवं सौहार्द के लिए जीवन मूल्यों का प्रचार होना चाहिये तथा मूल्य हमारे जीवन के अभिन्न अंग बनने चाहिये।

सूरत का घोषणा-पत्र

दो वर्ष पूर्व दिनांक १५-१०-२००३ को हमारे राष्ट्रपति डॉ० ए०पी०जे० अब्दुल कलाम ने सूरत में एक भव्य धार्मिक सम्मेलन में भाग लिया, जिसमें १५ धर्मों के श्रेष्ठ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। राष्ट्रपति ने अपने अभिभाषण में बताया कि प्रत्येक धर्म के दो अंग होते हैं, पहला जो क्रियाकाण्डमूलक होता है, जो साधु-संतों द्वारा स्थापित होता है तथा दूसरा जो जीवन के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित होता है, जिसे हम अच्छा जीवन जीने की शैली भी कह सकते हैं। यह जो दूसरा अंग है, उसके बारे में सभी धर्मों ने कहा कि वह दया और प्रेम पर आधारित है। सूरत के इस घोषणा-पत्र पर १५ धर्मों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी धर्मों के नैतिक मूल्यों में एकरूपता है। इस सम्मेलन ने यह सिद्ध भी किया कि सभी धर्मों ने मिलकर ही दया और प्यार के पुल का निर्माण किया है। सूरत के इस आध्यात्मिक सम्मेलन में ५ योजनाओं की भी घोषणा की गई, जिसे सभी धर्मों के प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया। ये पाँच योजनाएं हैं :-

*दुलीचन्द जैन, सचिव, जैन विद्या शोध संस्थान, ७०, शम्बुदास स्ट्रीट, चेन्नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१) सभी धर्मों के उत्सवों के सामूहिक आयोजन

२) विभिन्न धर्मों द्वारा समाज सेवा के सम्मिलित कार्यक्रम

३) सर्वधर्म संगोष्ठियों का आयोजन

४) शिक्षा के द्वारा सभी धर्मों के मानने वालों में एकता का भाव लाना

५) राष्ट्रीय स्तर पर एक स्वतंत्र संगठन का निर्माण जो धार्मिक एवं आध्यात्मिक नेताओं, विद्वानों एवं जागरूक नागरिकों द्वारा संचालित हो।

इस प्रकार इस सम्मेलन में घोषणा की गई कि आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा भारत को एक विकसित राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करने का प्रयास किया जायेगा।

विश्व में शान्ति के प्रयास

संयुक्त राष्ट्र संघ (यू०एन०ओ०) सारे विश्व में शान्ति की स्थापना का प्रयास कर रहा है। इसके घोषणा-पत्र में लिखा है कि जिस प्रकार युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के मन में होता है, उसी प्रकार शान्ति की संरक्षा का कार्य भी मनुष्य के मन में उत्पन्न होना चाहिये। संयुक्त राष्ट्र संघ का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है -यूनेस्को (United Nations Educational, Social and Cultural Organisaiton) जो शिक्षा, समाज तथा संस्कृति के विकास का कार्य करता है। अपने प्रस्ताव संख्या ५२/१५ द्वारा यूनेस्को ने वर्ष २००० को शान्ति की संस्कृति का अंतर्राष्ट्रीय वर्ष घोषित किया। उसके बाद प्रस्ताव संख्या ५३/१२ द्वारा २००१ से २०१० की दशाब्दि को "विश्व के बालक-बालिकाओं के लिए शान्ति एवं अहिंसा की दशाब्दि" घोषित किया। इसी संस्था के द्वारा प्रति वर्ष विश्व में सर्वाधिक शान्ति का प्रचार करने वाले व्यक्ति को "नोबल शान्ति पुरस्कार" द्वारा सम्मानित किया जाता है। सन् १९०१ से प्रारम्भ हुए इस पुरस्कार द्वारा अब तक १०२ व्यक्तियों को सम्मानित किया जा चुका है। हाल ही के वर्षों में जिन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को सम्मानित किया गया उनमें मार्टिन लूथरकिंग, हेनरी किसिंगर, मदर टेरेसा, मिखाइल गोरबाचेव, नेलसन मंडेला, यास्सर अराफात, कोफी अन्नान एवं जिम्मि कार्टर का नाम सम्मिलित है। सन् २००२ में यूनेस्को ने "नोबल शान्ति पुरस्कार" प्राप्त व्यक्तियों से पूछा कि विश्व में शान्ति और अहिंसा की स्थापना के लिए आपके क्या सुझाव हैं। शान्ति के मसीहा इन व्यक्तियों ने कहा कि शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक है कि बाल्यकाल से ही विद्यार्थियों के जीवन में कुछ मूल्यों का प्रचार किया जाय। उन्होंने जिन जीवन-मूल्यों के प्रचार पर विशेष जोर दिया, उनमें से मुख्य निम्न हैं :-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१) सभी जीवों के प्रति सम्मान (Reverence for all form of life), हिंसा की समाप्ति तथा सही शिक्षा, परस्पर सहयोग एवं बातचीत द्वारा अहिंसा को व्यवहार में लाना

२) मानवीय अधिकारों के सम्मान का भाव

३) लड़ाई-झगड़ों का शान्तिपूर्ण तरीकों से हल

४) स्त्री और पुरुष को समान अधिकार तथा सम्मान

५) सभी राष्ट्रों में स्वतंत्रता, न्याय, लोकतंत्र, सहिष्णुता तथा सहयोग की भावना का प्रचार

६) उन मूल्यों तथा जीवन शैलियों का विकास, जिसके द्वारा व्यक्तियों, समूहों एवं राष्ट्रों में शान्ति का विकास हो

७) राष्ट्रों के बीच जाति, वर्ण, रंग आदि का भेदभाव समाप्त करना

८) मानवीय जीवन-मूल्यों का प्रचार

जैन धर्म के जीवन-मूल्य

उपरोक्त विवेचन के सन्दर्भ में अब हम जैन धर्म के जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता पर विचार करें कि आज सारे विश्व को सुखी और समृद्ध बनाने में उनकी कितनी उपयोगिता है।

मूल्य का क्या अर्थ है? मूल्य का अर्थ है- ऐसे भाव या तत्त्व जो मनुष्य को पतन के गर्त से निकाल कर उत्कृष्टता की ओर ले जाते हैं। ज्ञानार्णव में कहा गया कि प्राचीन काल से ही महर्षियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, पुरुषार्थ के चार भेद माने हैं। यदि अर्थ और काम, धर्म द्वारा मर्यादित नहीं हों तो वे मनुष्य के लिए अनर्थकारी हो जाते हैं। मर्यादित अर्थ और काम मूल्यवान होते हैं।

जैन धर्म में मुख्य रूप से निम्न मूल्यों को महत्त्व दिया गया है :-

१. अहिंसा और करुणा

२. समता या समभाव

३. अपरिग्रह-श्रावक के लिए इच्छा परिमाण

४. अनेकान्त अर्थात् वैचारिक उदारता

५. पुरुषार्थ अथवा श्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. कर्म सिद्धान्त-व्यक्ति स्वातंत्र्य

७. पर्यावरण की रक्षा

८. शाकाहारी जीवन शैली

९. व्यसन-मुक्त जीवन

१०. दान, शील, तप, भावना इत्यादि

भगवान् महावीर ने कहा कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमता रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। उनके ही शब्दों में, "किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, यही ज्ञानियों के ज्ञान का सार है। अहिंसा, समता, समस्त जीवों के प्रति आत्मवत भाव यही शाश्वत धर्म है।"[३] उन्होंने जीवों के प्रति समादर के भाव पर जोर देते हुए कहा, "सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु (जीवन) प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है, जीवन सबको प्रिय है। अतः किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए, किसी के प्रति वैर और विरोध का भाव नहीं रखना चाहिए।"[४] आज का मनुष्य अहिंसा के उपर्युक्त मूल्यों को भूल गया है। परिणामस्वरूप आज विश्व में हिंसा, अशान्ति, तनाव, जीवन-मूल्यों का अवमूल्यन, सौहार्द का अभाव एवं आतंक बढ़ता ही जा रहा है। आइए, हम उन उपायों पर विचार करें, जो मानवता को वास्तविक सुख प्रदान करने में समर्थ हो सकते हैं। इसके पूर्व हम इस बात पर भी विचार करें कि मनुष्य क्या मात्र एक आर्थिक यन्त्र है?

आधुनिक सभ्यता, जो पूर्णतः भौतिकवाद पर आधारित है, ने मनुष्य के व्यक्तित्व को संकुचित करके उसे मात्र एक आर्थिक यन्त्र बना दिया है। आधुनिक युग में मनुष्य ने बहुत सारी विचारधाराओं का सहारा लिया ताकि वह पूर्ण समृद्ध एवं सुखी बन सके। लेकिन क्या उसे सुख एवं आनन्द प्राप्त हुआ? नहीं, आज मनुष्य को समृद्धि तो प्राप्त हुई है, लेकिन वह मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सका। कुछ वर्षों पहले साम्यवाद का बहुत बड़ा प्रभाव था और लगता था कि यह सारे विश्व को लाल रंग में रंग देगा। इसके प्रचारकों ने कहा कि हम गरीब एवं शोषित वर्ग को सम्पन्नता एवं गौरव प्रदान करेंगे, सामान्य व्यक्ति के जीवन को ऊंचा उठायेंगे, सबमें समानता लायेंगे लेकिन मात्र १०० वर्षों से भी कम समय में यह असफल सिद्ध हुआ। वहाँ के देशों की सामान्य जनता ने ही इस विचारधारा का विरोध किया, क्योंकि जीवन की आवश्यक वस्तुओं के अभाव से उनका जीवन त्रस्त हो गया था। दूसरी बड़ी विचाराधारा पूँजीवाद की है, जिसका नायक अमेरिका है। इसका उद्देश्य है, प्रकृति के संसाधनों का अधिकतम उपभोग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भोगवाद पर आधारित पर है। भौतिकताप्रधान पाश्चात्य युग की चकाचौंध का भीतरी पक्ष कितना अभिशाप-ग्रस्त है, यह एक गम्भीर चिंतन का विषय है।

टूटते परिवार

कुछ वर्षों पूर्व ब्रिटेन से प्रकाशित सुप्रतिष्ठित पत्र "दि इकोनॉमिस्ट" ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिसने पाश्चात्य जगत् के विचारकों को भी चौंका दिया है। शीर्षक है- "इक्कीसवीं शताब्दी में अमेरिकी परिवार का भविष्य"। यह रिपोर्ट शिकागो विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय मत अनुसन्धान केन्द्र ने २४ नवम्बर १९९९ को प्रस्तुत की थी। रिपोर्ट में प्रकाशित कुछ तथ्य इस प्रकार हैं-

- अमेरिका में परिवारों के संचालन एवं बच्चों के लालन-पालन में विवाह-संस्था का महत्त्व घट गया है।
- सन् १९६० एवं सन् १९९६ के बीच ३६ वर्षों में तलाक का प्रतिशत दुगुना हो गया है।
- सन् १९६० में अविवाहित माताओं की संख्या ५ प्रतिशत थी, जो सन् १९६० में बढ़कर ३२ प्रतिशत हो गयी है।
- सन् १९७२ में ७२ प्रतिशत अपने माता-पिताओं (विवाहित) के साथ रहते थे,सन् १९९६ में मात्र ५२ प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिता दोनों के साथ रहते हैं।
- अमेरिका में विवाहित स्त्री-पुरुषों को भी बच्चे नहीं चाहिए। सन् १९७२ में ४५ प्रतिशत माता-पिताओं के बच्चे नहीं थे।
- अब अमरीकी युवक-युवतियाँ बड़ी उम्र में विवाह करने लगे हैं तथा कई तो शादी के पहले कुछ काल तक शादी-शुदा जीवन का प्रयोग करते हैं।
- अमेरिका में २५ प्रतिशत स्त्रियाँ अपने पतियों से अधिक आमदनी प्राप्त कर लेती हैं। लगभग ६ प्रतिशत पुरुष घरेलू काम-काज करते हैं तथा उनकी पत्नियाँ कमाई करती हैं।

विद्यालयों में हिंसा

अमेरिका के विद्यालय-परिसरों में हिंसा की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। अप्रैल १९९९ में लिटलटन, कोलोराडो में तब यह चरम सीमा पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुँची, जब कोलम्बिने हाईस्कूल के दो विद्यार्थियों ने अपनी कक्षा के १३ सहपाठियों को गोलियों से उड़ा कर स्वयं अपने जीवन को भी समाप्त कर दिया। नेशनल एसोसियेशन ऑफ एटोर्नी जनरल ने बताया कि पिछले सात वर्षों में कम से कम १४ विद्यालयों में गोली चलाकर अपने सहपाठियों का मार डालने की घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। १४ मार्च २००० को हजारों अमरीकी नागरिकों ने वाशिंगटन में एक जुलूस निकाला तथा प्रस्ताव पारित किया कि अमरिकी कांग्रेस बन्दूक नियन्त्रण कानून को सख्त बनाये ताकि हिंसक घटनाओं की संख्या कम हो। वर्तमान समाचारों के अनुसार अमेरिका में प्रति वर्ष ३०००० व्यक्ति गोलियों के शिकार होते हैं।

श्री ई०एफ०शूमेकर ने कहा कि अमेरिका, जिसके पास विश्व की मात्र ६ प्रतिशत आबादी है, विश्व के ३० प्रतिशत संसाधनों का उपयोग कर लेता है। परिणामस्वरूप विश्व की एक बहुत बड़ी आबादी गरीबी, अभाव एवं शोषण से अभिशप्त है। अत: यह सिद्ध होता है कि आर्थिक विकास मात्र मनुष्य के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने में समर्थ नहीं है।

प्रकृति के प्रति भ्रामक धारणा

शताब्दियों से पाश्चात्य जगत् में यह एक धारणा बनी है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी के उपभोग के लिये बनी है। फ्रांसिस बेकन ने ४०० वर्ष पूर्व लिखा था कि यह सारी सृष्टि मनुष्य के लिये ही बनी है, अन्य प्राणियों के लिये नहीं। इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि प्रकृति एवं उसके संसाधनों का भयंकर शोषण किया गया। विज्ञान ने भी इसी धारणा को बढ़ावा दिया और कहा कि पशु-पक्षी, पेड़-पौधों में प्राण नहीं है। यह भी बताया गया कि प्रकृति का भण्डार असीम है और वह मात्र मनुष्य को सुखी करने के लिये है। वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से प्रकृति का अधिक से शोषण कर मनुष्य के जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। इस धारणा के कारण प्रकृति का जो निर्मम शोषण हो रहा है और उसके जो भयावह परिणाम सामने आ रहे हैं, उसकी ओर कम लोगों का ध्यान गया है। एर्नोल्ड टोयनबी ने सन् १९७२ में लन्दन ओब्जर्वर में लिखा, "हम लोग परेशान हैं क्योंकि हमने अधिकतम भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मा की भावनाओं को उपेक्षित कर दिया है, लेकिन हमारा यह प्रयास आध्यात्मिक दृष्टि से गलत ही नहीं अपितु अव्यावहारिक भी है।" हाल ही में प्रकृति एवं उसके साधनों के दुरुपयोग के भीषण परिणाम सामने आये हैं। मेक्सिको में वायु का भयंकर प्रदूषण, यूक्रेन के चेर्नोबिल परमाणु केन्द्र की भयावह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्घटना और उसके परिणाम, ब्राजील में वर्षा देने वाले जंगलों की विनष्टि, स्वीडन में रासायनिक वर्षा द्वारा झील का विनाश, गंगा जैसी महान् नदियों के जल में प्रदूषण इत्यादि कुछ घटनाएँ इस खतरे को प्रकट करती हैं। जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती है, हमारी पृथ्वी इस संकट से ग्रस्त नजर आती है।

जीव-जन्तुओं का विनाश

आज पशुओं का निर्ममता से वध किया जाताा है। खाद्य पदार्थ, फर, चमड़ा एवं अन्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए यान्त्रिक कारखानों में बड़े परिमाण में पशु मारे जाते हैं। मनुष्य ने पशुओं की ४३५५ प्रजातियों में से २५ प्रतिशत को, पक्षियों की ८६१५ प्रजातियों में से ११ प्रतिशत को एवं जल-जन्तुओं की कुल ३४ प्रतिशत प्रजातियों को पूर्णत: समाप्त कर दिया है। मनुष्य की क्रूरता चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। ग्रीनपीस पत्रिका के अनुसार अफ्रीका में १९८१ में हाथियों की संख्या १५ लाख थी जो १९९० में, मात्र दस वर्षों में, शिकार के कारण घटकर ६ लाख ही रह गयी। अक्तूबर १९९३ में Convention of International trade in endangered Species को हाथीदांत के व्यापार पर प्रतिबन्ध घोषित करना पड़ा ताकि हाथियों की संख्या और अधिक नहीं घटे।

गाय के माँस को 'बीफ' कहते हैं। इंग्लैण्ड का बीफ सबसे बढ़िया माना जाता है। यूरोप में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है, इसी के ऊपर इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था निर्भर करती है। प्रकृति विरुद्ध आहार के कारण गायें पागल होने से गौ माँस मंगाना बन्द कर दिया। ब्रिटेन के लोगों ने उस बीमारी से ग्रस्त लाखों गायों को मार दिया। हाल ही में यूरोप के कुछ देशों में पशुओं में 'पाँव एवं मुँह की बीमारी' (Foot & Mouth Disease) फैल गयी है। इसके भी भयावह परिणाम नजर आ रहे हैं।

वर्षा लाने वाले जंगल

लकड़ी एवं अन्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए बड़ी मात्रा में जंगलों को काटा जा रहा है। घरेलू पशुओं को चराने के लिये तथा सोयाबीन आदि की उपज के लिये भी जंगलों को नष्ट किया जाता है। मॉसाहार के लिये पशुओं की कृत्रिम पैदावार की जा रही है। इस प्रकार स्थान-स्थान पर जंगल कटने से पर्यावरण नष्ट हो रहा है, वर्षा कम हो रही है तथा रेगिस्तान बढ़ रहे हैं।

औद्योगिक दुर्घटनाएँ

रसायन उद्योगों में भीषण दुर्घटनाएँ हो रही हैं। जैसा कि सर्वविदित है, १९८५ में भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड के कारखाने में एक वॉल्व में छेद हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने के कारण ३० टन लेथल मिथाइल गैस हवा में फैल गयी। इस जहरीली गैस के दुष्प्रभाव से २००० व्यक्तियों की तुरन्त मौत हो गयी तथा १७००० व्यक्ति हमेशा के लिये स्थायी रूप से अपंग हो गये।

विश्व में बड़ी मात्रा में परमाणु बमों का निर्माण हो रहा है तथा उस निर्मित सामग्री को नियन्त्रण में रखना बहुत कठिन है। विकसित राष्ट्रों के पास १५००० टन परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह हो चुका है। इन परमाणु कारखानों में अनेक भीषण दुर्घटनाएँ भी घटित हुई हैं। यूक्रेन स्थित चेर्नोबिल परमाणु संयन्त्र में जो दुर्घटना घटित हुई, उससे २०००० व्यक्तियों की मृत्यु हुई और ५लाख से अधिक लोग बीमारियों के शिकार हुए।

मांस उद्योग एवं पर्यावरण

माँस का बड़ी मात्रा में उत्पादन पर्यावरण के विनाश का कारण है। विश्व में उत्पन्न होने वाला ४० प्रतिशत अनाज उन पालतू जानवरों के चारे के लिये व्यय होता है, जिन्हें बाद में माँस पैदा करने के लिये कत्ल कर दिया जाता है। यदि विश्व में माँस का उत्पादन कम कर दिया जाय तो पर्यावरण के सुधार पर अनुकूल असर पड़ेगा। तब कम मात्रा में वृक्षों को काटना पड़ेगा एवं भूमि का कटाव भी घट जायेगा।

उपभोक्तावाद

उपभोक्तावाद का विस्तार इस पाश्चात्य विचारधारा पर आधारित है कि वस्तुओं का अधिकतम उत्पादन विश्व की सभी आर्थिक समस्याओं का समाधान है और इसी से जनसामान्य का आर्थिक एवं सामाजिक विकास सम्भव हो सकता है। अपने जीवन को समृद्ध बनाने के लिये हमें वस्तुओं का अधिकतम संग्रह एवं उपभोग करना चाहिए। अमेरिका के लोग आज सन् १९५० की तुलना में वस्तुओं का दुगुना संग्रह एवं उपभोग कर रहे हैं। यह उपभोक्तावाद का सिद्धान्त अनैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है, जहाँ स्वार्थ की भावना ही प्रमुख है तथा सामाजिक कल्याण का महत्त्व गौण है। कहते हैं कि जनसंख्या की असीमित वृद्धि पर्यावरण के विनाश का मुख्य कारण हैं और इसमें कोई सन्देह भी नहीं है लेकिन समृद्ध समुदाय की वस्तुओं के बारे में बढ़ती हुई मांग और तृष्णा भी पर्यावरण विनाश का एक बहुत बड़ा कारण है, इसकी ओर कम ध्यान दिया गया है।

The World wide Fund for Nature ने अपनी Living Planet Report-2000 में कहा है कि आज वस्तुओं की जितनी मांग बढ़ रही है, उससे लगता है कि पृथ्वी उपग्रह में जितने संसाधन हैं, उनसे ३० प्रतिशत अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसाधनों की आवश्यकता होगी । इसमें आगे कहा गया है कि यदि अविकसित देशों के व्यक्ति भी विकसित देशों के लोगों के समान अपनी आवश्यकताओं की अभिवृद्धि करते रहेंगे तो उनकी मांग की पूर्ति के लिये और दो पृथ्वी उपग्रहों की आवश्यकता पड़ेगी। रिओडिजेनैरो में सन् १९९२ में आयोजित पृथ्वी शिखर सम्मेलन में यह भाव व्यक्त किया गया कि "विश्व में पर्यावरण के निरन्तर होने वाले ह्रास का मुख्य कारण विकसित राष्ट्रों की बढ़ती हुई माँगें तथा उनका अत्यधिक उपयोग है, यदि नियन्त्रित नहीं किया गया तो पर्यावरण संकट बढ़ता जायेगा।"

इस परिस्थिति में जैन धर्म के मूल्यों की क्या भूमिका है? इस पर भी विचार किया जाना अत्यावश्यक है। भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में कहा, "जहाँ पर भौतिक पदार्थों के अत्यधिक संग्रह एवं उनके उपयोग की भावना रहती है, वहाँ पर परिग्रह एवं तृष्णा की वृद्धि हो जाती है।" तृष्णा से मनुष्य के मन में और अधिक वस्तुओं के संग्रह करने की भावना जगती है। इस प्रकार की अति संग्रह की भावना अशान्ति में परिणित हो जाती है। केवल अपने स्वार्थ को ही बढ़ाते चले जाना, मानवीय उच्च भावनाओं यथा करुणा आदि को भी विनष्ट कर देता है। आज जो उपभोक्ता सामग्री की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है, उससे कोई साधारण व्यक्ति भी अछूता नहीं रह सकता है। जब उस व्यक्ति की माँगों की पूर्ति नहीं होती है तो उसके मन में चिन्ता एवं क्षोभ पैदा हो जाता है। इसके कारण सामान्य आमदनी का व्यक्ति कभी-कभी अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है। चोरी एवं डाके इत्यादि भी बढ़ जाते हैं। उपभोक्तावाद साधारण व्यक्ति को सम्पन्न व्यक्तियों का अनुकरण करने को बाध्य करता है, जिससे उनका मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक पतन हो जाता है। बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद व्यक्ति के जीवन में अशान्ति, तनाव, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि पैदा कर देता है।

प्रदूषण का प्रकोप

आज अनेक देशों में प्रदूषण का प्रकोप इतना बढ़ गया है कि वहाँ विशुद्ध जल एवं वायु का मिलना भी दुर्लभ हो गया है। रासायनिक खाद के अत्यधिक प्रयोग से हिंसा तो होती ही है, जमीन की उर्वरा शक्ति का भी क्षरण हो रहा है। कई देशों में नदियों का पानी इतना दूषित हो गया है कि वह पीने के लायक नहीं रहा। कारखानों से निकलने वाले धुएँ एवं गन्दगी का भी पर्यावरण पर घातक प्रभाव पड़ रहा है। पृथ्वी शिखर सम्मेलन में इस बात पर भी चिन्ता व्यक्त की गयी कि प्रकृति के संसाधनों का भण्डार धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। आज दुनियां के ७-८ समृद्ध देश ७० प्रतिशत संसाधनों का उपयोग कर रहे हैं। जबकि इन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशों की जनसंख्या मात्र २० प्रतिशत ही है। परिणामस्वरूप विश्व की एक बड़ी आबादी गरीबी, कुपोषण, भूख, बीमारी इत्यादि से ग्रसित है। विकसित एवं अविकसित देशों में निरन्तर असमानता बढ़ती ही जा रही है।

अहिंसा का महत्त्व

भगवान् महावीर ने जो सबसे महान् सन्देश दिया, वह अहिंसा का सन्देश है। अहिंसा का अर्थ है- जीव मात्र के प्रति प्रेम, सम्मान एवं एकात्मता का भाव। यही भाव आज के विश्व में वास्तविक सुख, शान्ति एवं सौहार्द उत्पन्न कर सकता है। वर्तमान विश्व की समस्याओं के निराकरण में इस सिद्धान्त की क्या भूमिका है, इस पर विचार किया जाना चाहिए। अहिंसा का सिद्धान्त केवल मनुष्यों या पशुओं तक ही सीमित नहीं है; किन्तु इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। जैनधर्म मानता है कि वनस्पति में भी जीव हैं। यहाँ तक कि पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु में भी अदृश्य जीव हैं, जिन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। अत: उनकी भी रक्षा की जानी चाहिए। अत: जैनधर्म के अनुसार वृक्षों को काटना या वनस्पति को नष्ट करना, भूमि को अनावश्यक खोदना, जल का अनावश्यक बड़ी मात्रा में उपयोग हिंसा का कारण है। आज पर्यावरण वैज्ञानिक एवं वन्य-जन्तु विशेषज्ञ भी कहते हैं कि जंगली जानवरों की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वे प्रकृति का सन्तुलन बनाने में सहायक हैं। प्रत्येक जीव का, चाहे वह छोटी-सी चींटी हो या बृहद्काय हाथी, प्रकृति की सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान है। आज वनस्पति के रक्षण, नदियों को प्रदूषण से बचाने एवं पृथ्वी की सम्पदा की रक्षा के लिये आन्दोलन चल रहे हैं। इस प्रकार तीर्थङ्करों ने हजारों वर्ष पहले प्राणी-रक्षा पर जोर दिया था, उसी का समर्थन आज के वैज्ञानिक कर रहे हैं।

प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व

विश्व के सभी प्राणियों को प्रकृति के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा, "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" अर्थात् संसार के सभी प्राणी एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हैं। वे एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। उनको एक दूसरे के सुख-दु:ख को समझ कर उसमें सहभागी बनना चाहिए। दुर्भाग्य से आज का मनुष्य अपने आपको सर्वश्रेष्ठ जीव मानता है और वह प्रकृति की सभी शक्तियों पर नियन्त्रण करना चाहता है। यह एक भ्रामक धारणा है। मनुष्य को जीवित रहने में वनस्पति, नदियाँ, पहाड़, जीव-जन्तु इत्यादि उसकी मदद करते हैं। अगर मनुष्य अपने जीवन में शान्ति और आनन्द चाहता है तो उसे उन सभी की रक्षा करनी चाहिए तथा उनको शोषण से बचाना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार हिंसा जीव के कर्म-बन्धन का मुख्य कारण है, इससे आत्मा की शक्तियाँ क्षीण होती हैं तथा मनुष्य राग एवं द्वेष से ग्रसित होकर पतन को प्राप्त होती है। परिणामस्वरूप जन्म एवं मरण का चक्र बढ़ता ही जाता है। क्या हम किसी ऐसे किसी समाज की कल्पना कर सकते हैं, जहाँ सभी हिंसा से ग्रस्त हैं? वहाँ किसी प्रकार की शान्ति असम्भव है, वह तो जंगली राज्य होगा। कुछ व्यक्ति कहते हैं कि "जीवो जीवस्य भोजनम्" अर्थात् एक जीव, दूसरे जीव का भोजन है, लेकिन यह सिद्धान्त भी सही नहीं है। वास्तव में सभी जीव, एक-दूसरे के सहयोग से ही जीवित रहते हैं, विकास पाते हैं। जब जीव एक-दूसरे को परस्पर सहयोग, प्रेम एवं करुणा प्रदान करते हैं तब यह पृथ्वी सबके लिये सुखकारी हो जाती है। अतः अहिंसा का सिद्धान्त आज भी सभी समस्याओं का एक व्यावहारिक एवं प्रभावशाली समाधान है।

जैन धर्म के अनुसार हिंसा का कारण कषाय एवं प्रमाद है। भगवान महावीर ने कहा, "क्रोध, मान, माया और लोभ - ये चार दुर्गुण पाप की वृद्धि करने वाले हैं। जो अपनी आत्मा की भलाई चाहते हैं उन्हें इन दोषों का परित्याग कर देना चाहिए।"[५] इसी प्रकार प्रमाद भी हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। प्रमाद कई प्रकार के हैं - मद्य (शराब पीना), विषय (काम भोग), कषाय और विकथा (अर्थहीन, रागद्वेषवर्द्धक वार्ता)।[६] जैनधर्म में इसलिए भाव हिंसा अर्थात् मानसिक हिंसा से भी विरत रहने को कहा गया। मानसिक हिंसा सबसे भयंकर है।

व्यावहारिक जीवन में अहिंसा

एक गृहस्थ के लिये अहिंसा का पूर्णता से पालन करना सम्भव नहीं है। अतः जैन आचार्यों ने हिंसात्मक गतिविधियों के दो भाग किये - १ - कुछ जिन्हें पूर्णता से त्यागना चाहिए और २ - कुछ जिन्हें आंशिक रूप से त्यागना चाहिए। पुनः हिंसा का चार भागों में वर्गीकरण किया गया -

१. **संकल्पी हिंसा** : जान-बूझ कर प्राणियों की हिंसा करना जैसे- सांडों की लड़ाई।

२. **आरम्भी हिंसा** : गृहस्थी को चलाने के लिए जिस हिंसा से बचना सम्भव नहीं है- जैसे घर की सफाई या भोजन बनाने में किसी जीव की अनजाने में हिंसा।

३. **उद्योगी** : आजीविका के लिये अर्थात् उद्योग या व्यापार चलाने में या कृषि में होने वाली हिंसा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **विरोधी** : अपने जीवन, सम्पत्ति या देश की रक्षा हेतु होने वाली हिंसा।

साधु लोग उपर्युक्त चारों प्रकार की हिंसा का परित्याग करते हैं। गृहस्थ को भी प्रथम प्रकार की हिंसा का पूर्णत: त्याग करना चाहिए। अन्य तीन प्रकार की हिंसा का त्याग, उसके लिये सम्भव नहीं है तथापि उनमें भी विवेक या जागरुकतापूर्वक जीवनयापन करना आवश्यक है।

अहिंसा का जो नकारात्मक रूप है, उसकी ओर सबका ध्यान गया है पर उसका जो सकारात्मक रूप है, उस पर कम ध्यान दिया गया। आचार्य अमितगति ने इसे बड़े सुदर रूप में अभिव्यक्त किया है :-

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!।।[७]

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, गुणज्ञों के प्रति प्रमोद, व्यथितों के प्रति करुणा तथा अपने से विपरीत भाव रखने वालों के प्रति तटस्थ वृत्ति - हे प्रभो! मेरी आत्मा में ये भाव सदैव सुस्थिर हों।

ये ही वे भाव हैं जिनकी उपादेयता यूनेस्को ने की है और इनको ही हमारे राष्ट्रपति डॉ० ए०पे०जी० अब्दुल कलाम प्रचारित करना चाहते हैं। इन चारों भावनाओं में जैन धर्म के शाश्वत मूल्य विद्यमान हैं, जो सारे विश्व में शान्ति और सह-अस्तित्व को मजबूत कर सकते हैं तथा प्राणिमात्र को वास्तविक सुख और आनन्द प्रदान कर सकते हैं।

संदर्भ :

१. **ज्ञानार्णव**, शुभचन्द्र, ३/४.
२. **'हिन्दु'** राष्ट्रीय दैनिक, चेन्नई, दिनांक १८-१०-०३.
३. **दशवैकालिक सूत्र**, १/१.
४. **सूत्रकृतांग सूत्र**, १/११/१०.
५. **आचारांग सूत्र**, १/२/३/६३.
६. **दशवैकालिक सूत्र** ८/३७.
७. **उत्तराध्ययन निर्युक्ति**, १८०.
८. **परमात्म-द्वात्रिंशिका**, १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

वैदिक ऋषियों का जैन परम्परा में आत्मसातीकरण

डॉ० अरुण प्रताप सिंह*

वैदिक ऋषिगण अपनी विशिष्टता के लिए प्रख्यात रहे हैं। त्याग, तपस्या एवं सर्वलोकमंगलकारी भावना के कारण भारत की प्राय: सभी परम्पराओं – वैदिक एवं श्रमण – में इनको श्रद्धा के साथ स्मरण किया गया है। श्रमण परम्परा के जैन आचार्य प्रारम्भ से ही उदात्त विचारधारा से अनुप्राणित रहे हैं। यही कारण है कि लोक जनमानस में श्रेय मार्ग का जो भी पथिक रहा, उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और अपने ग्रन्थों में सम्मानजनक स्थान प्रदान किया। यहाँ यह उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि इस प्रक्रिया में जैन आचार्यों ने उन श्रेष्ठ पुरुषों को भी स्थान दिया जिनके आचार-विचार से वे सहमत नहीं थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में वैदिक, बौद्ध, आजीविक एवं विभिन्न धार्मिक क्रिया-विधियों से सम्बन्धित ऋषियों का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में जैन ग्रन्थों में वर्णित वैदिक ऋषियों की जैन परम्परा में आत्मसातीकरण की प्रक्रिया की समीक्षा की गई है।

वैदिक ऋषियों के सन्दर्भ हमें जैन परम्परा के प्राचीनतम अंग साहित्य से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में कुछ वैदिक ऋषियों को महापुरिसा (महापुरुष), महारिसी (महर्षि) एवं तवोधणा (तप रूपी धन से सम्पन्न) कहकर सिद्धि प्राप्त करने वाला बताया गया है।

"आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्ततवोधणां।
उदएण सिद्धिमावण्णा तत्थ मंदे विसीयते।।"[१]

यहाँ उल्लेखनीय है कि सूत्रकृतांगकार ने औपनिषदिक, सांख्य, चार्वाक एवं बौद्धों के मत का खण्डन किया है किन्तु तप-त्याग के मार्ग का अनुसरण करने वाले वैदिक ऋषियों की अभ्यर्थना की है। यह कहा गया है कि विदेह नरेश नमिराज ने आहार छोड़कर और रामउत्त (रामपुत्र) ने आहार का उपभोग करके;

*रीडर, प्रा०इ० विभाग, एस०बी०पी०जी० कालेज, सिकन्दरपुर, बलिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहुक एवं तारायण (अथवा नारायण) ने शीतल जल का सेवन करके, असित देवल, द्वैपायन एवं पराशर ने शीतल जल-बीज तथा हरी वनस्पतियों का उपभोग करके मोक्ष को प्राप्त किया था।[२]

उपर्युक्त जिन ऋषियों का उल्लेख है वे सबके सब वैदिक परम्परा से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार प्रथम उपांग ग्रन्थ औपपातिक में भी वैदिक ऋषियों को सम्मानपूर्वक स्थान दिया गया है। यहाँ सांख्य मत के मानने वाले, योग परम्परा को स्वीकार करने वाले, कापिल अर्थात् महर्षि कपिल की परम्परा वाले, भार्गव अर्थात् भृगु ऋषि की परम्परा वाले, हंस, परमहंस, बहूदक एवं कृष्ण परिव्राजकों का उल्लेख है। इसके उपरान्त औपपातिककार ने आठ ब्राह्मण परिव्राजकों एवं आठ क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख किया है। आठ ब्राह्मण परिव्राजकों में कर्ण, करकण्डु, अम्बड, परासर, कृष्ण, द्वैपायन, देवगुप्त या देवपुत्र और नारद का उल्लेख है।

"कण्णे य करकण्डे य अंबडे य परासरे।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए।।"[३]

इसी प्रकार आठ क्षत्रिय परिव्राजकों में शीलधी, शशिधर, नग्नक, भग्नक, विदेह, राजराज, राजराम तथा बल का उल्लेख है।

"सीलई ससिहारे य नग्गई भग्गई ति य।
विदेह रायाराया, रायारामे बलेति य।।"[४]

औपपातिककार के अनुसार वैदिक परम्परा के ये श्रेष्ठ ऋषि ऋक्, यजु, साम, अथर्व - इन चारों वेदों तथा इतिहास एवं निघण्टु के ज्ञाता थे। इन्हें चारों वेदों का सारक अर्थात् अध्यापन द्वारा सम्प्रवर्तक अथवा स्मारक अर्थात् दूसरे व्यक्तियों को स्मरण कराने वाले, पारग अर्थात् वेदों के पारगामी और धारक अर्थात् वेदों को स्मृति में बनाए रखने में सक्षम कहा गया है। ये वेदों के छहों अंगों के ज्ञाता थे। इन परिव्राजकों के आचरण की विस्तारपूर्वक प्रशंसा की गई है।[५] इसी प्रकार जैन परम्परा के एक विशिष्ट ग्रन्थ ऋषिभाषित में जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं के छियालिस ऋषियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस जैन ग्रन्थ में वर्णित ऋषियों में वैदिक, बौद्ध एवं आजीविक परम्परा के ऋषियों को भी स्थान प्राप्त है। वैदिक ऋषियों में देव नारद, वात्सीपुत्र, असितदेवल, अंगिरस, याज्ञवल्क्य, मधुरायण, शौर्यायण, विदुर, आर्यायण, रामपुत्र, अम्बड, उद्दालक, अरुण, पिंग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संजय, द्वैपायन, ऋषिगिरि, तारायण या नारायण, इन्द्रनाग, वायु, सोम, यम, वरूण और वैश्रमण का उल्लेख है। इन ऋषियों को सिद्ध, बुद्ध एवं जिन कहा गया है।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मसातीकरण की इस प्रक्रिया का आधारबिन्दु क्या था अर्थात् वे कौन सी मूलभूत योग्यताएं एवं विशेषताएं थीं जिनसे प्रभावित होकर जैन आचार्यों ने वैदिक ऋषियों एवं परिव्राजकों को अपनी परम्परा में आत्मसात करने का प्रयास किया। सन्दर्भित ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट है कि जैनों ने उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों एवं देवताओं को स्थान दिया जिनके आचरण एवं व्यवहार उनके सिद्धान्तों के निकट थे या मान्य थे। सूतकृतांगकार ने नमी, वैदेही, बाहुक, असितदेवल या परासर आदि ऋषियों को तपरूपी धन से सम्पन्न (तपोधन) कहा है। निश्चित ही तपस्या जैन धर्म का मूल अंग रही है। कठोर तपस्या ही इनका आदर्श था। चूँकि ये ऋषि तपस्या में संलग्न थे अत: भिन्न परम्परा के होते हुये भी उन्हें अंग-आगम में स्थान दिया गया यद्यपि उनके सामान्य आचरण, भोजन आदि जैन परम्परा के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे।

इसी प्रकार ऋषिभाषित में वर्णित ऋषियों के उपदेशों का अध्ययन करें तो उपर्युक्त तर्क और सबल रूप में पुष्ट होता है। इन ऋषियों के उपदेश निश्चित ही वैदिक परम्परा के समनुरूप रहे होंगे परन्तु इस विशिष्ट ग्रन्थ में उन्हीं उपदेशों को संकलित किया गया है जिन पर कोई मतभेद नहीं था और जो जैन मान्य सिद्धान्तों के निकट थे। उदाहरणार्थ - देवनारद का जो उपदेश संकलित है, वह जैन परम्परा में वर्णित पञ्चयाम अथवा पञ्चमहाव्रत के सर्वथा समनुरूप है। इसमें नारद ने उपदेश दिया है कि साधक त्रिकरण (कृत, कारित एवं अनुमोदित), त्रियोग (मनोयोग – वचनयोग-काययोग अर्थात् मन, वचन एवं काय) से न तो हिंसा करे (पाणातिपातं), न असत्य (मुसावादं) बोले और न अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह (अब्बम्भं-परिग्गहं) का सेवन करे और न करवाये।[६] उनके अनुसार एक सच्चा मुमुक्षु सत्य, दत्त और ब्रह्मचर्य की उपासना करता है और यही उसके उपधान अर्थात् साधन है[७]। इसी तरह असित देवल के उपदेशों में स्थूल एवं सूक्ष्म प्राणियों के हिंसा की निन्दा की गई है। हिंसा करने वाले को पापकर्म से बँधा हुआ बताया गया है।

''सहुमे वा बायरे वा, पाणे जो तु विहिंसइ।
रागदोसाभिभूतप्पा, लिप्पते पावकम्मुणा।।''[८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह – इन पाचों दुर्गुणों को लेप (smear) कहा गया है और यह बताया गया है कि ये आत्मा के बन्धन स्वरूप हैं।

''पाणातिवातो लेवो, लेवो अलियवयणं अदत्तं च।
मेहुणगमणं लेवो, लेवो परिग्गहं च।।''[९]

और इन पापवर्द्धनकारी प्रवृत्तियों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। इसी प्रसंग में क्रोध, मान, माया, लोभ की चर्चा है जिससे विरत रहने की सलाह दी गई है। इन्हें भी लेप अर्थात् बन्धनकारी माना गया है। स्पष्ट है असितदेवल के उपदेश जैन परम्परा के सर्वथा अनुकूल थे। पञ्चमहाव्रतों के साथ ही जैन परम्परा में कषायों का उल्लेख बहुश: हुआ है। क्रोध, मान, माया और लोभ ही कषाय हैं। प्राय: सभी जैन आचार्यों ने कषायों के शमन का उपदेश दिया है। अंगरिसी या अंगिरस का उपदेश भी ध्यातव्य है। ये एक प्रख्यात वैदिक ऋषि थे। इनके उपदेशों में भी परिग्रह की निन्दा गई है। उसे आदानरक्षी कहा गया है अर्थात् ग्रहण का रक्षण करने वाला है। ऐसे पुरुष को अशोभनीय कर्म करने वाला एवं बन्धनकारी माना गया है। अंगिरस के पूरे उपदेश में परिग्रह की निन्दा की गई है।

यहाँ अष्टप्रचवनमाता (अक्खोवंजणमादाय) अर्थात् ५ समिति एवं ३ गुप्ति का भी उल्लेख है जो कालान्तर में जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त बन गया। इसमें शील-ज्ञान एवं दर्शन की महिमा गायी गई है। यह कहा गया है कि शील ही धुरायुक्त रथ है जिसके ज्ञान और दर्शन सारथी हैं। ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर आत्मा अपने आत्म-स्वभाव को पाने का प्रयास करता है।

''सीलक्खरहमारूढो, णाणदंसण सारथी।
अप्पणा चेव अप्पाणं, चोदित्ता सुभमेहती।।''[११]

इसी प्रकार पुष्पशाल के उपदेशों में पंचमहाव्रतों - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की चर्चा है।

''ण पाणे अतिपातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए।
ण मेहुणं च सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे।।''[१२]

यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य का सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय है। यदि हम ऋषिभाषित एवं बृहदारण्यक के उल्लेखों की चर्चा करें तो दोनों में न केवल भाव की समानता है अपितु भाषा की अद्भुत संगति देखने को मिलती हैं। यहाँ साधक को वित्तैषणा एवं लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचर्या का उपदेश दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा, ताव ताव लोएसणा। से लोएसणं च वित्तेसणं च परिन्नाए गोपहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा।"[१३]

"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मण: पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्याचरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवत:।"[१४]

अर्थात् जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है, जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है, अत: साधक को वित्तैषणा एवं लोकैषणा का परित्याग करके गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नहीं। सम्भवत: यहाँ गोपथ से तात्पर्य है कि जिस प्रकार गाय थोड़ी-थोड़ी घास चरते हुए जीवन जीती है, उसी प्रकार से व्यक्ति को भिक्षाचर्या द्वारा किसी को कष्ट न देते हुए जीवन जीना चाहिए। यहाँ महापथ का तात्पर्य जैसा कि प्रो० सागरमल जैन ने बताया है, लोकपरम्परा से है।[१५] उपनिषदों में भी श्रेय और प्रेय की चर्चा है। श्रेय मार्ग से ही जाने का उपदेश दिया गया है प्रेय मार्ग से नहीं। यहाँ हम याज्ञवल्क्य के उन्हीं सिद्धान्तों की चर्चा पाते हैं जो जैन धर्म के अनुकूल हैं। आत्मा की शाश्वतता सम्बन्धी याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यहाँ हम एक शब्द भी नहीं पाते।

ऋषिभाषित के १७वें अध्याय में विदुर की चर्चा है। महाभारत में इन्हें व्यास के द्वारा अम्बिका की दासी से उत्पन्न बताया गया है। महाभारत के स्त्री पर्व में इनके उपदेशों का विस्तार से वर्णन मिलता है। महाभारत एवं ऋषिभाषित में उल्लिखित इन सन्दर्भों को मिलाने पर दोनों में आश्चर्यजनक समानता प्रकट होती है। विदुर के उपदेशों का सार यह है कि जिस प्रकार रोग के निवारण के लिए रोग का परिज्ञान, उसके सम्यक् निदान का परिज्ञान एवं औषधि का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है तथा साथ ही स्वाध्याय एवं ध्यान भी। ऋषिभाषित में विदुर के उपदेश का प्रारम्भ उस विद्या की प्रशंसा से हुआ है जिसे महाविद्या कहा गया है और जो सभी दु:खों से मुक्त करती है।

"इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा।
जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती।।"[१६]

यह सन्दर्भ हमें उपनिषदों के उस महावाक्य का स्मरण दिलाता है जहाँ विद्या को मुक्ति दिलाने वाला कहा गया है –

"सा विद्या या विमुक्तए"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में श्रेष्ठ विचारों के आत्मसातीकरण की यह प्रक्रिया केवल व्यक्तियों अर्थात् ऋषियों तक ही सीमित न थी, अपितु पूरे के पूरे कथानक को अपनी परम्परा में ढालने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि पूरा का पूरा श्लोक यथावत उद्धृत कर दिया गया। केवल एक उदाहरण के माध्यम से इस तथ्य को बखूबी समझा जा सकता है। जैन परम्परा के मूलग्रन्थ उत्तराध्ययन के इसुकारी अध्ययन में एक पुत्र अपने पिता से संन्यास मार्ग का अनुसरण करने के लिए आज्ञा माँगता है। कथानक के अन्त में कुछ वाद-विवाद के उपरान्त पुत्र न केवल स्वयं प्रव्रजित होता है अपितु पिता-माता को भी प्रव्रजित करा देता है। ठीक यही कथानक महाभारत के शन्तिपर्व में है। दोनों में भाव एवं भाषा की समानता देखते ही बनती है। पुत्र द्वारा आज्ञा माँगने पर पिता उसे सर्वप्रथम वेदाध्ययन करने, पुत्र पैदा करने, फिर वानप्रस्थ में प्रवेश करने, तदुपरान्त मुनि अर्थात संन्यासी बनने का उपदेश देता है।

अधीत्य वेदान ब्रह्मचर्येसु पुत्र, पुत्रानिच्छेत पावनाय पितृणाम।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्।।महाभारत[१७]

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिपप्प गिहंसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था।।उत्तराध्ययन[१८]

आगे कथानक में पुत्र अपने पिता से कहता है यह लोक किसी के द्वारा ताड़ित एवं आहत है तथा अमोघा वस्तुएँ हम पर टूट पड़ रही हैं।

एवमभ्याहते लोके सर्वतः परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीसु किं धीरं इव भाषसे ।।महाभारत[१९]

अब्भाहंमि लोगंमि सव्वओ परिवारिए ।
अमोहाहिं पडन्तीहिं गिहंसि न रइं लभे।।उत्तराध्ययन[२०]

पुनः पिता यह प्रश्न करता है कि यह लोक कैसे ताड़ित है तथा किससे घिरा हुआ है तथा कौन सी अमोघ वस्तुएँ हम पर टूट पड़ रही हैं। पुत्र पिता को समझाते हुए कहता है कि यह लोक मृत्यु से आहत है, जरा से घिरा हुआ है। दिन और रात्रियाँ (समय चक्र की गति) हम पर टूट पड़ रही हैं।

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः का पतन्तीहि किं नु भीषयसीवमाम ।।
मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्ती में तच्च कस्मान्नबुद्धयसे ।।महाभारत[२१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केण अब्भाहओ लोगो केण वा परिवारिओ
का वा अमोहा वुत्ता, जाया! चिंतावरो हु मि।
मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ
अमोहा रयणी वुत्ता एवं ताय। वियाणह।।उत्तराध्ययन[२२]

हम देखते हैं कि वैदिक परम्परा के संन्यास-परक श्रेष्ठ सन्दर्भों को अपने अनुकूल बनाकर जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में सम्मानपूर्ण स्थान दिया। इसी प्रकार वैदिक परम्परा के श्रद्धेय राम, कृष्ण, शिव के कथानक को भी अपनी परम्परा के अनुसार ढालकर वन्दनीय स्थान प्रदान किया। विमलसूरि रचित पद्मचरित में वर्णित राम के कथानक से इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। कृष्ण को अनदेखा नहीं किया जा सकता था इसलिए पहले तो उन्हें नरक में डाला - पर बाद में उन्हें तीर्थंकर बनाया।[२३] कृष्ण का सन्दर्भ आत्मसातीकरण की इस प्रक्रिया को समझने में सर्वथा सार्थक है। कालान्तर की शताब्दियों में भी हम इस प्रक्रिया के दर्शन पाते हैं।आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्र ने अपने लोकतत्त्वनिर्णय में ऐसे ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर के साथ जिन की स्तुति की है जिनके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं।

यस्य अनिखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।[२४]

एक जैनाचार्य द्वारा तीर्थंकर (जिन) के साथ वैदिक देवताओं ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर की स्तुति धार्मिक सहिष्णुता का अपूर्व उदाहरण है। साथ ही यह हमें दोनों परम्पराओं में निहित मूल आधारबिन्दुओं को खोजने में सहायता प्रदान करता है। श्रेष्ठ मानक मूल्यों के आत्मसातीकरण की यह प्रक्रिया आगे भी चलती रही। १२वीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने ठीक इन्हीं शब्दों में ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर (शंकर) एवं जिन की स्तुति की है जिनमें संसार परिभ्रमण के कारणभूत राग-द्वेष के तत्त्व सर्वथा क्षीण हो गये हैं।

भवबीजांकुरजनना रागद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो जिनो वा नमस्तस्मै।।[२५]

आत्मसातीकरण की यह प्रक्रिया अभिलेखों में भी दिखायी पड़ती है। जैसे- चाहमान युवराज कीर्तिपाल के नाडोल अभिलेख में। कीर्तिपाल राजा आल्हड़देव का छोटा पुत्र और केल्हड़देव का अनुज था। यह अभिलेख विक्रम संवत् १२१८ (११६१ ई०) का है जो नाडोल के महावीर मन्दिर को दान देने के सम्बन्ध में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस अभिलेख में ब्रह्मा, श्रीधर (विष्णु) एवं शंकर की स्तुति की गई है जो रागों से परे हैं और संसार में जिन के नाम से प्रसिद्ध हैं।

"श्रीयै भवन्तु वो देवा, ब्रह्मश्रीधरशंकरः सदा विरागवन्तो, ये जिना जगति विश्रुताः"[२६]

अतः हम देखते हैं कि जैन परम्परा ने वैदिक परम्परा के उन श्रेष्ठ मूल्यों को आत्मसात करने का प्रशंसनीय प्रयास किया जो उनके मान्य सिद्धान्त के अनुकूल थे। वैदिक परम्परा ने भी इसका समुचित उत्तर दिया। प्रायः सभी हिन्दू राजवंशों ने प्रफुल्ल मन से जैन धर्म के विकास में अपना योगदान दिया जो उनके अभिलेखों से स्वतः द्योतित होता है।

सन्दर्भ :

१. **सूत्रकृतांग**, १/३/४/१ (श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज० १९८२ ई०)।

२. अभुंजिया णमी वेदेही, रामउत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारायणे रिसी।।
आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य।।
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेतमणुस्सुतं।।
वही, १/३/४/२-४।

३. **औपपातिक सूत्र**, ७६, पृ० १२९ (श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज० १९८२)

४. **वही**।

५. ते णं परिव्वाया रिउव्वेद – यजुव्वेद – सामवेद – अहव्वणवेद – इतिहासपंचमाणं, निघण्टुछट्ठाणं, संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेदाणं सारगा पारंगा धारगा, संडगवी, सट्ठितंत्त-विसारया, संखाणे सिक्खाकप्पे, वागरणे, छंदे, निरत्ते, जोइसामयणे, अण्णेसु य बहूसु बंभण्णएसु य सत्थेसु परिव्वाएसु य नएसु सुपरिणिट्ठिया यावि होत्था।
वही, ७७, पृ० १३१।

६. **ऋषिभाषित**, नारद अध्ययन, पृ० १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. "सच्चं चेवोवसेवन्ती, दत्तं चेवोवसेवन्ती, बम्भं चेवोवसेवन्ती। सच्चं चेवोवहाणवं, दत्तं चेवोवहाणवं, बम्भं चेवोवहाणवं।

वही, पृ० ३।

८. **वही**, देवल अध्ययन, पृ० ८।

९. **वही**, पृ० ९।

१०. कोहो बहुविहो लेवो, लेवो माणे य बहुविधविधीओ।
माया य बहुविधा लेवो, लोभो वा बहुविध विधीओ।।

वही, पृ० ९।

११. **वही**, अंगिरस अध्ययन, पृ० १७-१८।

१२. **वही**, पुष्पशाल अध्ययन, पृ० १९।

१३. **वही**, याज्ञवल्क्य अध्ययन, पृ० ४८।

१४. **बृहदारण्यकोपनिषद्**, ३/५/१।

१५. **ऋषिभाषित** – एक अध्ययन, पृ० ४६।

१६. **ऋषिभाषित**, विदुर अध्ययन, पृ० ६७।

१७. **महाभारत**, शान्ति पर्व, ७७/६।

१८. **उत्तराध्ययन**, १४/९।

१९. **महाभारत**, शान्ति पर्व, ७७/७।

२०. **उत्तराध्ययन**, १४/२१।

२१. **महाभारत**, शान्तिपर्व, ७७/८-९।

२२. **उत्तराध्ययन**, १४/२२-२३।

२३. **प्राकृत प्रापर नेम्स**, प्रथम भाग, पृ० १५३।

२४. **लोकतत्त्वनिर्णय**, १४०।

२५. **महादेव स्तोत्र**, ४४।

२६. **एपिग्रेफिया इण्डिका**, भाग नौ, पृ० ६६-७०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

'दया-मृत्यु' एवं 'संथारा-प्रथा' का वैज्ञानिक आधार

डा० रामकुमार गुप्त*

मानव जीवन आस्थामूलक है। यह आस्था विचारशीलता, आत्मबोध, परहित-भाव एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखती है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर से यक्ष ने पूछा, 'हे पाण्डव! व्यक्ति का विस्तार कितना होता है? साधारण व्यक्ति इसका उत्तर यह देता- 'यक्ष बन्धु! लगभग साढ़े तीन हाथ'। परन्तु युधिष्ठिर का उत्तर इससे भिन्न है। उन्होंने मनुष्य के त्रिकाल व्याप्त बौद्धिक एवं नैतिक आयामों को ध्यान में रखते हुए उत्तर दिया था- 'व्यक्ति के कर्मों का यश पृथ्वी से उठकर आकाश को स्पर्श कर लेता है। किसी मनुष्य के शुभ-कर्मों की ध्वनि जितने क्षेत्र में व्याप्त होती है, उतना ही उस व्यक्ति का विस्तार समझो[१]।

किन्तु बीसवीं सदी के व्यक्ति की जीवन-दृष्टि उपयोगी एवं अनुपयोगी मानक से अनुराग रखती है[२]। यह जीवन-दृष्टि समाज को ऐसे यक्ष प्रश्न पर विचार-विमर्श हेतु विवश कर रही है, जिसके श्रवण मात्र से ही व्यक्ति में कंपकंपी उत्पन्न हो जाती है। लेकिन व्यक्ति सामाजिक यथार्थ से भी असम्पृक्त नहीं रह सकता। यही कारण है कि अब समाज ने जीवन के वसीयत पर विचार-विमर्श हेतु मंच बना लिया है। जिसे 'वर्ल्ड फेडरेशन आफ टू डाई सोसाइटी' कहा जाता है। इस गैर अन्तर्राष्ट्रीय मंच का प्रथम सम्मेलन १९७६ में जापान के शहर टोक्यो में आयोजित हुआ था। तब से प्रत्येक दूसरे वर्ष यहाँ इसका आयोजन किया जाता है। फेडरेशन की वेबसाइट के अनुसार- जब व्यक्ति की मानसिक स्थिति ऐसी हो कि वह कोई निर्णय लेने में असमर्थ हो, तो मनुष्य के पास यह अधिकार होना चाहिए कि उसे कब और कैसे मरना है?

भारत में मुम्बई की मीनू मसानी ने भी १९८१ में 'द सोसाइटी फार द राइट टू डाई विद डिगनिटी' स्थापित किया है।

ज्ञातव्य है कि 'दया-मृत्यु' की अवधारणा बीसवीं सदी की अभिव्यक्ति है। यह असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति की शारीरिक वेदना से जीवन को अन्त करने का चिकित्सकीय साधन है (Medical Termination of Life- (MTL).

*वरिष्ठ प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र-विभाग, टी०डी०पी०जी० कालेज, जौनपुर-२२२००२ (यू०पी०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब किसी व्यक्ति की मृत्यु असाध्य रोग से अवश्यम्भावी लगती है तथा उसके लिए वेदना रहित एवं सार्थक जीवन की आशाएं क्षीण हो चुकी होती हैं; तो रोगग्रस्त व्यक्ति की सहमति पर अथवा संरक्षक बन्धुओं की प्रार्थना पर चिकित्सक 'दया-मृत्यु' प्रदान करने के अप्रिय विकल्प का चयन करते हैं; जो सम्बन्धित व्यक्तियों के 'संकल्प-शक्ति' (Will-power) से लिया गया निर्णय होता है। तदुपरान्त रोगी की कृत्रिम जीवन-रक्षक दवाएँ तथा शल्य चिकित्सा आदि साधन बन्द कर दिये जाते हैं एवं केवल दर्द निवारक साधन जारी रखें जाते हैं। इस अप्रिय विकल्प के अनुसरण से रोगी आत्महत्या किए बिना चिरिनिद्रा में सो जाता है। जैसे मार्च २००१ में ब्रिटेन की एक ४३ वर्षीय महिला ने अदालत से प्रार्थना किया कि उसे दी जा रही प्राणदायक कृत्रिम सांस बन्द कर दी जाए। अदालत ने महिला को स्वीकृति प्रदान कर दी[३]।

किन्तु समाज के लिए जीवन और मृत्यु में भेद करना यक्ष प्रश्न की भाँति होता है। उदाहरणार्थ- अमेरिकी नागरिक 'टेरी शिआवो' मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होने के कारण अपने जीवन के विषय में निर्णय करने में असमर्थ था। फलस्वरूप उसके पति की प्रार्थना पर अदालत ने १९९० से निस्पंद पड़ी शिआवो के प्राण-रक्षक उपकरण हटाकर उसे चिरनिद्रा में सोने की अनुमति प्रदान कर दी किन्तु शिआवो के माता-पिता ने इसका विरोध किया; क्योंकि उन्हें अभी उसके पुन: स्वस्थ होने की आशा थी। अत: न्यायालय ने अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया और माना कि अगर शिआवो की राय ली जा सकती, तो क्या वह अपने मौत के पक्ष में होती? साक्ष्यों के आधार पर न्यायालय ने माना कि रोगी शिआवो अपने मृत्यु के पक्ष में नहीं होती। फलस्वरूप न्यायालय ने निर्णय दिया कि जिन रोगियों की 'प्रत्यक्ष राय' नहीं-जानी जा सकती, उनके जीवन रक्षक उपकरण जारी रखें जाएं। तत्पश्चात् न्यायालय के आदेश पर रोगी शिआवो को ६ दिन के पश्चात् जीवन-रक्षक उपकरण लगा दिये गये[४]।

जीवन और मृत्यु के मध्य अन्तर करने के निर्णय का एक अन्य संदर्भ यह भी है जो सांस की असाध्य रोग से पीड़ित ९६ वर्षीय माँ, पुत्र तथा डॉक्टर के मध्य 'दया-मृत्यु' के अप्रिय विकल्प पर विचार करने से है। यदि डॉक्टर रोगी *महिला के जीवन को बचाने का उपाय करता है; तो उसे महिला के प्राण-रक्षक* उपकरण को जारी रखना होगा। अन्तत: पुत्र माँ की तरफ से निर्णय करता है और डॉक्टर से कहता है कि मैं आपसे माँ के प्राण-रक्षक उपकरण को हटाने के लिए नहीं कहूँगा; लेकिन कृपया माँ की और चिकित्सा न करें; उन्हें शान्ति से अन्तिम सांस लेने दें[५]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त सन्दर्भ में ही फेफड़े की बिमारी से ग्रस्त ५९ वर्षीय नीना बेनर्जी द्वारा 'दया-मृत्यु' के अप्रिय विकल्प के अनुकरण का प्रसंग भी है, जिन्होंने प्राण-रक्षक दवा के सहारे जीवित रहने के बजाए चिरनिद्रा में सोने का निर्णय किया। नीना बेनर्जी ने अपनी पुत्री भंगानी से कहा कि जब मेरा अन्तिम समय आ जाए; तो वे प्राण-रक्षक उपकरण हटा दे। पुत्री भंगानी ने, माँ जब पूर्णत: प्राण-रक्षक उपकरणों पर आश्रित हो गई; वही किया और एक घंटे के भीतर नीना बेनर्जी चिरनिद्रा में सो गईं।[६]

ध्यातव्य है कि 'दया-मृत्यु' को 'इच्छा-मृत्यु' के समकक्ष मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि 'इच्छा-मृत्यु' व्यक्ति का नितान्त-वैयक्तिक निर्णय होता है। 'इच्छा-मृत्यु' के समर्थकों का कहना है कि अपने जीवन को बनाए या समाप्त करने का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होना चाहिए। इनके दृष्टिकोण में एक स्वस्थ व्यक्ति भी अपने जीवन को समाप्त कर सकता है, लेकिन भारत का सर्वोच्च न्यायालय इसके विरुद्ध है। १९९६ में न्यायालय ने निर्देश दिया है कि जीवित रहने के अधिकार के समान जीवन को समाप्त करने का अधिकार किसी को नहीं है। पाश्चात्य विचारक रूसो भी कहता है- मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, लेकिन प्रत्येक स्थान पर वह परतन्त्र होता है[७]। वस्तुत: जन्म लेना एक संयोग है; लेकिन जीवित रहना और जीवित न रहना एक संयोग नहीं है। इसीलिए 'इच्छा-मृत्यु' को प्रत्येक समाज में आत्महत्या माना जाता है। यथार्थत: यह उचित भी है; क्योंकि कानूनी वैधता 'इच्छा-मृत्यु' की प्रवृत्ति में वृद्धि प्रदान कर सकती है। कतिपय व्यक्ति मनोवैज्ञानिक या जजबाती कारणों से इसका अनुसरण करने को प्रेरित हो सकते हैं। इसलिए 'इच्छा-मृत्यु' को वैधानिक अनुमति नहीं दी जा सकती है। जैसे १३ दिसम्बर २००१ को भारतीय राज्य केरल के उच्च न्यायालय ने ७३ वर्षीय बी०के० पिल्लै को अपनी प्राण त्यागने की अनुमति देने से अस्वीकार कर दिया। असाध्य रोग से पीड़ित पिल्लै ने न्यायालय के समक्ष तर्क रखा कि वे सम्मानजनक जीवन जीने में असमर्थ हैं। लेकिन न्यायालय ने यह कहकर उनकी याचिका अस्वीकार कर दी कि पिल्लै की याचिका के मूल्यांकन के लिए न्यायालय के पास कोई दिशा-निर्देश नहीं है। न्यायालय ने कहा सम्भव है पिल्लै लम्बी बिमारी के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी अपने जीवन को समाप्त करना चाहते हों[८]। यही कारण है कि लगभग १०० व्यक्तियों द्वारा 'इच्छा-मृत्यु' का अनुसरण करने में सहायक बनने वाले एक अमेरिकी डॉक्टर जैक कैवेर्कियन को 'डॉ० डेथ' कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि 'दया-मृत्यु' अमंगल से मंगल की यात्रा है। तथापि 'दया-मृत्यु' के विषय में अन्तिम निर्णय लेना प्रभावित व्यक्ति अथवा उसके आत्मीय जनों एवं डॉक्टरों के लिए दुरूह कार्य है, जो ईश्वर की भूमिका निभाने जैसा है। यही कारण है कि 'दया-मृत्यु' की अवधारणा को लेकर जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उठाये जाते हैं। जो मुख्यत: 'दया-मृत्यु' के निर्णय लेने के 'दुरुपयोग' की आशंका पर आधारित हैं। कहा जाता है कि उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण के दृष्टिकोण से प्रभावित समाज के नैतिक पतन की कोई सीमा नहीं है। फलस्वरूप असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति स्वयं को परिवार या समाज पर भार समझ सकता है अथवा परिवार एवं समाज के लोग भी रोगी को वित्तीय एवं सुख-सुविधा के दृष्टिकोण से अनुपयोगी समझ सकते हैं। अन्तत: 'दया-मृत्यु' भी 'सती-प्रथा' की भाँति एक बाध्यकारी विकल्प बन जाएगा। बात कष्टकारक है, मगर सत्य है कि डॉक्टर भी चन्द रुपयों के लिए 'पोस्ट मार्टम रिपोर्ट' तक को बदल देते हैं।

ध्यातव्य है कि 'दया-मृत्यु' की अवधारणा यादृच्छिक (Arbitrary) निर्णय पर आधारित नहीं है। अपितु 'दया-मृत्यु' का क्रियान्वन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है। जो एक पैनल के गंभीर विचार-विमर्श के निर्णय पर निर्भर होता है। इस निर्णय में वैज्ञानिक, चिकित्सकीय एवं मनोचिकित्सकों के परामर्श, रोगी अथवा आत्मीय जनों की सहमति के साथ-साथ कोई आपत्ति प्रस्तुत न किये जाने पर ही क्रियान्वित करने का निर्देश है[९]। साथ ही 'दुरुपयोग' की आशंका तो किसी भी अवधारणा के प्रति व्यक्त की जा सकती है। जैसे- 'अल्ट्रासाउण्ड' का दुरुपयोग करके 'भ्रूण-हत्या' विवेकशील चिकित्सक, जननी एवं संरक्षक के द्वारा सोच समझकर ही क्रियान्वित किया जाता है। अत: किसी भी अवधारणा के दुरुपयोग को कानून से नहीं रोका जा सकता है। कर्तव्यबोध आत्मरोपित नैतिकता पर आधारित होता है।

इसलिए सर्वप्रथम अमेरिका के 'ओरेगन-राज्य' ने १९९७ में असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्तियों को वेदना रहित 'दया-मृत्यु' अपनाने का विधिक अधिकार प्रदान कर दिया। अप्रैल २००२ से हालैण्ड ने भी 'दया-मृत्यु' को विधि सम्मत बना दिया। वेल्जियम ने हालैण्ड का अनुसरण किया। अब पूरे यूरोप, आस्ट्रेलिया इत्यादि ईसाई देशों में भी 'दया-मृत्यु' पर गंभीर विचार-विमर्श हो रहा है। भारत के बिनोवा भावे द्वारा जीवन त्याग को 'दया-मृत्यु' का दृष्टान्त माना जा सकता है, क्योंकि जब बिनोवाजी ने दवा देना बन्द कर दिया तो न्यायालय तक ने कहा था कि आप किसी व्यक्ति को जीवित रहने के लिए बाध्य नहीं कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शनों में नास्तिक दर्शन का प्रतिनिधि जैन दर्शन एक व्यावहारिक जीवन-दृष्टि का प्रणेता है। इस दर्शन में भी 'दया-मृत्यु' की तरह 'संथारा-प्रथा' का प्रतिपादन किया गया है। 'संथारा-प्रथा' के अन्तर्गत जैनधर्मावलम्बी साधु एवं श्रावक जीवन के सभी उद्देश्य पूरे करने पर सार्वजनिक रूप से तथा धार्मिक विधि-विधान से आत्मोत्सर्ग हेतु स्वैच्छिक मृत्यु का आश्रय लेते हैं। जिसमें जैन मुनि उन्हें 'अन्न-जल' त्यागकर भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की दिव्य यात्रा करने की अनुमति देते हैं। ज्ञातव्य है कि जैनधर्मावलम्बी 'संथारा-प्रथा' का अनुसरण करते ही समाज के आदरणीय हो जाते हैं। जैन धर्म में वृद्धों, गृहस्थों, मुनियों इत्यादि के द्वारा 'संथारा-प्रथा' को आत्मोत्सर्ग का साधन और साध्य मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है[१०]। जैन ग्रन्थों में वर्णन है कि महावीर ने 'संथारा-प्रथा' को आत्मसात किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जीवन के अन्तिम समय में 'अन्न-जल' त्यागकर भारतीय राज्य कर्नाटक में भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की दिव्य यात्रा का अनुसरण किया था[११]। स्पष्ट है कि 'संथारा-प्रथा' में जैनानुयायी भौतिकता को त्यागकर आत्मोत्सर्ग के लिए दिव्य यात्रा करते हैं, जैसे- २००२ में भारत के विभिन्न राज्यों में ६० जैनानुयायियों नें 'संथारा-प्रथा' को आत्मसात किया[१२]।

निष्कर्षत: ज्ञात होता है कि 'दया-मृत्यु' एवं जैनदर्शन के 'संथारा-प्रथा' दोनों अवधारणाओं के साधन एवं साध्य में भिन्नता है। 'दया-मृत्यु' चिकित्सकीय साधन द्वारा शारीरिक पीड़ा से मुक्ति है; जो स्वेच्छा या परेच्छा से सार्वजनिक रूप से संकल्प शक्ति के आधार पर क्रियान्वित की जाती है। जबकी 'संथारा-प्रथा' भौतिकता को त्याग कर आत्मोत्सर्ग हेतु दिव्य यात्रा के लिए प्रस्थान है। लेकिन दोनों अवधारणाएं प्रभावित व्यक्तियों के संकल्प-शक्ति पर आधारित हैं। संकल्प-शक्ति के निर्णय वैज्ञानिक आधार पर निर्भर होते हैं। क्योंकि संकल्प-शक्ति (Will-Power) नैतिकता की आधारभूत मान्यता है जिसमें निर्णयकर्ता में कर्म करने की क्षमता, ज्ञान और उद्देश्य तथा विकल्पों के चयन की स्वतन्त्रता इत्यादि पहलू अन्तर्निहित रहते हैं। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति 'दया-मृत्यु' (अनिवार्य हिंसा) को आन्तरिक प्रेरणा से निर्भीकता पूर्वक स्वजन के प्रति निस्सीम प्रेम एवं अगाध दया से ओत-प्रोत होकर क्रियान्वित करता है। परिणामत: उसके निर्णय प्रभावित व्यक्ति एवं उसके आत्मीयजनों के साथ-साथ समाज के लिए भी कल्याणकारी होते हैं। इसको आत्मसात करने वाला व्यक्ति 'मानव जीवन' को क्रियाशील, आस्थामूलक एवं आनन्दमय मानता है और सोचता है-

जहाँ में जब तक रहो रहो इंसा की शान से।
वरना कफन उठाओ और चलो इस जहाँन से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ :

१. **महाभारत** (वनपर्व:-यक्षप्रश्न)।

२. लुडविग विटगेन्स्टाइन की कृति-'**फिलॉसफिकल इंवेस्टीगेशंस** में- ''Don't ask for the meaning; ask for the use."

३. **इण्डिया टुडे**, १७ अप्रैल २००२ में शेफाली वासुदेव का लेख।

४. **नवभारत टाइम्स**, नई दिल्ली के सम्पादकीय से उद्धृत।

५. **इण्डिया टुडे**।

६. **वही**।

7. Rosseau- *'Social Contract'* - (23), Man is born free however, he is every where in chain."

८. **इण्डिया टुडे**, वही।

९. **वही**।

१०. डा० रज्जन कुमार - '**समाधिमरण**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५।

११. **इण्डिया टुडे**, ६ मार्च २००२ में उदय माहूकर का लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

जैन श्रमण संघ में विधि शास्त्र का विकास

डा० शारदा सिंह*

प्रस्तुत लेख डॉ० शारदा सिंह को भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त उनके पोस्ट डॉक्टोरल फेलोशिप हेतु स्वीकृत विषय का सारांश है जिसपर वे पार्श्वनाथ विद्यापीठ में कार्य कर रही हैं - **सम्पादक**

भारतीय दर्शन के इतिहास का पूर्वार्द्ध प्रमुखत: निवर्तक और प्रवर्तक धर्मों के उद्भव, विकास और संघर्ष का इतिहास है, जबकि उत्तरार्द्ध इनके समन्वय का इतिहास है। जैन धर्म निवर्तक धर्मों का प्रतिनिधि दर्शन है। इसलिए जैन दर्शन में श्रमण जीवन को सर्वोच्च माना गया है। श्रमण जीवन एक उच्चस्तरीय नैतिकता एवं आत्मसंयम का जीवन है। श्रमण संस्था पवित्र बनी रहे इसलिए श्रमण संस्था में प्रविष्ट होने के लिए भिक्षु-भिक्षुणी की दिनचर्या, वस्त्र, आहार, विहार, शील नियन्त्रण आदि से सम्बन्धित विधि नियमों –उपनियमों की आवश्यकता महसूस हुई।

विधि सम्बन्धित नियमों पर किसी भी प्रकार की चर्चा से पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विधि शास्त्र के नियमों को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, अत: आज जो नियम प्रचलित हैं वो प्राचीन काल से वैसे ही नहीं चले आ रहे हैं। यहां पर यह कहना असंगत नहीं होगा कि इस अन्तराल में कुछ नियम परिस्थिति के साथ बदल दिये गये और कुछ वाचनाओं के माध्यम से आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किये गये। जैन साहित्यिक साक्ष्यों से यह पता चलता है कि महावीर निर्वाण के १६० वर्ष बाद प्रथम वाचना पाटलीपुत्र में, ३०० वर्ष पश्चात्, द्वितीय वाचना उड़ीसा में, वीर निर्वाण संवत् ८२७ अर्थात् ई० सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में, लगभग उसी समय चौथी वाचना वलभी में और वीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद अर्थात् ई० सन् की पांचवीं शताब्दी में वल्लभी में हुई। अन्तिम वल्लभी वाचना मौर्यों के समय पाटलीपुत्र में, और मथुरा में चौथी शताब्दी में वाचनाएं हुईं। पांचवीं और छठी शताब्दी में हुई वल्लभी वाचना विधि सम्बन्धित नियमों उपनियमों के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी है[१]।

* *पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, पार्श्वनाथ विद्यापीठ*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना भी सम्भव नहीं होगा कि पाटलिपुत्र और वल्लभी वाचना में क्या नियम उपनियम बनाए गये और किन-२ नियमों को बदला गया। जैन श्रमण संघ के इतिहास पर दृष्टि डालें तो इतना तो कहा ही जा सकता है कि जैन श्रमण संघ के विधि शास्त्रीय नियम किसी एक काल या एक व्यक्ति द्वारा नहीं स्थापित किये गये बल्कि पूरी श्रमण संस्कृति नियमों के विकास में सहायक रही है।

सर्वप्रथम विधि-व्यवस्था को प्रतिपादित करने के लिए जैन संघ को चार भागों में विभाजित किया गया है -

१. भिक्षु संघ २. भिक्षुणी संघ ३. श्रावक संघ (उपासक संघ) ४. श्राविका संघ (उपासिका संघ)।

जैन संघ में भिक्षु-भिक्षुणी उपासक और उपासिकाओं के वस्त्र, आहार, विहार, दिनचर्या से सम्बन्धित अनेक नियम और उपनियमों का वर्णन मिलता है। जैन श्रमण संघ में भिक्षु-भिक्षुणियों का एक नियमित धार्मिक संगठन होता है और उसी के अनुसार नियमों का कठोरता से पालन करने का विधान है। जबकि श्रावक-श्राविकाओं का संघ नियमों के पालन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता देता है। श्रावक-श्राविकाओं को अपनी रुचि, शक्ति और परिस्थिति के अनुसार यथायोग्य क्रियाकाण्ड करने का एवं उनके समाज के सामान्य नियमानुसार व्यावहारिक प्रवृत्तियों में लगे रहने का वर्णन मिलता है। गृहस्थ वर्ग समाज व्यवस्था का परिपालन, जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन एवं संरक्षण करके करता है। जबकि श्रमण संघ पूर्णतः त्याग का उद्देश्य लेकर आध्यात्मिक पथ का वरण करता है। वास्तव में विधि-व्यवस्था, आचरण सम्बन्धी नियमों की परिपालना है जिन्हें व्रत कहा जाता है। व्रत सम्बन्धित नियम संघ पर जबर्दस्ती नहीं थोपे जाते अपितु गृहस्थ अथवा श्रमण दोनों नैतिक उत्कर्ष की ओर अपने कदम दृढ़ता से बढ़ाते हुए स्वेच्छा से स्वीकारते हैं यद्यपि जैन श्रमण संघ में व्यक्तिगत साधना की व्यवस्था भी है फिर भी सामुदायिक साधना की भावना ही मुख्य रही है।

श्रमण-संघ की विधि-व्यवस्था के पीछे मुख्य रूप से आध्यात्मिक चिन्तन रहा है। जैन आचार व्यवस्था का आधार भगवान महावीर के उपदेश ही थे। परन्तु यह भी सत्य है कि सभी नियमों और उपनियमों का निर्माण तीर्थंकर ही नहीं करते थे। बहुत से ऐसे नियम और उपनियम हैं जिनके निर्माता श्रुतकेवली भद्रबाहु और अन्य अनेक गीतार्थ स्थविर भगवान रहे हैं। उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को दृष्टि में रखकर मूल नियमों के अनुकूल उनके समर्थक और अविरोधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियमोपनियमों का निर्माण किया है। जैन आगमों के सर्वप्रथम संस्कृत टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने यह स्पष्ट कहा है कि जो नियम संयम-साधना में अभिवृद्धि करते हों और असंयम की प्रवृत्ति का विरोध करते हों, वे नियम भले ही किसी के द्वारा निर्मित क्यों न हों, ग्राह्य हैं। किन्तु बाद में इन नियमों में शिथिलता भी दिखाई पड़ती है। नियमों के बार-बार अतिक्रमण होने पर आचार्यों द्वारा उन्हें बदल दिये जाने के संदर्भ में जैन धर्मावलम्बी इस बात को मानने लगे थे कि विधि शास्त्रीय नियमों में जो भी परिवर्तन किये जाएं वो संघ के प्रभावी आचार्यों द्वारा ही किए जाएं । इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि आचार सम्बन्धी नियमों को लेकर ही जैन धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिनमें श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथ आदि मुख्य रूप से आते हैं।

जैन धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में मतभेद विशेष रूप से उनके नियमों को लेकर है। श्वेताम्बर उन नियमों को नहीं मानते जिन्हें दिगम्बर मानते हैं और दिगम्बर उन नियमों को नहीं मानते जिन्हें श्वेताम्बर मानते हैं। फिर भी कुछ नियमों के पालन में दोनों ही सम्प्रदायों में एकरूपता है। जैन परम्परा में भिक्षु-संघ में प्रवेश पाने के लिए यद्यपि वर्ण एवं जाति को बाधक नहीं माना गया तथापि उसमें कुछ व्यक्तियों को संघ में प्रवेश पाने के अयोग्य माना गया। जैन धर्म में श्रमण-दीक्षा के लिए माता-पिता एवं परिवार के अन्य आश्रित जनों की अनुमति आवश्यक मानी गई है।

श्रमण-संघ के दो मूल विभाग हैं: साधु वर्ग व साध्वी वर्ग। संख्या की विशालता को दृष्टि में रखते हुए उन वर्गों को अनेक उपविभागों में विभक्त किया जाता है। समान्यतया एक वर्ग में दो से चार तक साधु होते हैं ताकि साधु-साध्वियों की सुविधानुसार देख-रेख व व्यवस्था की जा सके। यही उनकी संगठनात्मक व्यवस्था है। प्रारम्भ में संघ में दीक्षित होने वाले प्रत्येक नर या नारी को भिक्षु या भिक्षुणी के नाम से जाना जाता था, परन्तु संघ में इनकी संख्या में वृद्धि होने के कारण तथा प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए संघ में क्रमशः कई पदों का सृजन हुआ जैसे- आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, मुनि, प्रवर्त्तिनी आदि। इन पदों में आचार्य और उपाध्याय के पदों को ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना गया किन्तु ये पद केवल भिक्षु के लिए ही सुरक्षित थे। भिक्षुणी योग्य होने पर भी उच्च पदों पर आसीन नहीं हो सकती थी, तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो बौद्ध भिक्षुणी भी उच्च पदों की अधिकारी नहीं थी किन्तु भिक्षुणी का संघ में प्रवेश सम्बन्धी विधि सर्वप्रथम जैन धर्म में ही बनाया गया।

संगठनात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न पदों के लिए आवश्यक कर्तव्य तथा अधिकार निश्चित किये गये थे। विभिन्न पदों पर आसीन श्रमण या श्रमणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघ के सभी नियमों के विज्ञ एवं प्रशासनिक योग्यता में अत्यंत निपुण होते थे। यद्यपि इनके योग्यता और दायित्व के बारे में आगमों में एकरूपता नहीं है। आचारांग और उनके परवर्ती युग में संघ की केन्द्रीय व्यवस्था समाप्त होने के फलस्वरूप प्रत्येक गण और गच्छ के स्वतन्त्र व्यवस्था के विवरण मिलते हैं।

यद्यपि वस्त्र, पात्र, उपकरणों आदि के बारे में संघ में सभी प्रकार के वस्तुओं को ही श्रमणों के लिए अग्रहणीय माना गया गया है। किन्तु जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें कुछ वस्तुएं रखने की अनुमति है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रमण के आवश्यक वस्तुओं को तीन भागों में बाँटा गया है-[२] पुस्तक, मोर की पिच्छी, जलपात्र कमण्डल आदि। श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्र, पात्र, कमण्डल और रजोहरण इन चार उपकरणों का विधान है[३]। प्रश्नव्याकरण[४] आदि सूत्रों में चौदह वस्तुओं को श्रमण के योग्य माना गया है, किन्तु धीरे-धीरे मुनि अपनी सुख सुविधाओं हेतु वस्तुओं की संख्या में वृद्धि करते गए। इतना ही नहीं गुलिका, खोल, भरतीथिक आदि औजार भी रखने लगे। वस्तुत: जैन श्रमणों को जिन वस्तुओं को रखने का विधान है उनमें संयम की सुरक्षा ही प्रमुख है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो श्रमण वस्तुओं का संग्रह करता है वह श्रमण नहीं गृहस्थ है[५]।

जैन श्रमण संघ में साधु-साध्वी के लिए सादा और सात्विक भोजन का प्रावधान है जिसमें शुद्धता का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। साथ ही उनके भोजन का भार समाज के किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष पर न पड़े इसलिए मुनियों को भ्रमण करते हुए आहार अथवा भिक्षा के विधान का विकास किया गया। मुनि को भोजन में स्वाद लोलुपता न रखकर संयम पालन के लिए आहार ग्रहण करने का आदेश है। इस प्रकार आहार के सम्बन्ध में दोनों संघों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। जैन संघ अति कठोर आचार में विश्वास करता है।

जैन श्रमण संघ में वस्त्र; अचेलता और सचेलता के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही विवाद होता रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन्हीं नियमों को लेकर ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय निर्मित हुए। क्योंकि इनकी मान्यता थी कि बिना अचेलत्व मुक्ति नहीं प्राप्त होगी। परन्तु इस कठोर दृष्टिकोण के बावजूद श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में निर्वस्त्रता का पूर्णतया पालन सम्भव न हो सका। वास्तव में देखा जाए तो वस्त्र सम्बन्धी नियम मूलत: मुनि आचार से सम्बन्धित है क्योंकि गृहस्थ उपासक उपासिकाओं और साध्वियों के लिए तो जैन धर्म में प्रारम्भ से ही वस्त्र का विधान है। श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रंथ आचारांग से लेकर बाद के परवर्ती ग्रंथों तक में वस्त्र सम्बन्धी अनेक नियमों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख मिलता है। भगवतीआराधना, मूलाचार, षट्खण्डागम आदि ग्रंन्थों में अचेलता को लेकर अनेक नियमों का उल्लेख मिलता है।[६]

जैन श्रमण संघ में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि साधु साध्वियों के पारस्परिक सम्बन्ध ऐसे हों जिनसे उनका चारित्रिक पतन न हो और वे सामाजिक कल्याणार्थ आध्यात्मिक पथ पर बढ़ते चले जाएं। यद्यपि जैन श्रमण संघ की मान्यता थी कि श्रमणों के लिए न अशन का निर्माण किया जाय, न वसन का और न भवन का निर्माण किया जाय। किन्तु श्रमणी के शील सुरक्षार्थ आवास के सम्बन्ध में भी नियम बनाये गए। भिक्षु-भिक्षुणियों का एक ही मकान में रहना वर्जित है। धर्मशाला, बिना छत का मकान, वृक्षमूल एवं खुली जगह पर रहना भी विधि नियमों के विरुद्ध माना गया है, तथा श्रमणी के लिए जहां दुकान हो, गली के किनारे का स्थान आदि अनुकल्प्य माने गये हैं। ठीक ऐसे ही श्रमण परम्परा के दूसरे दर्शन बौद्ध दर्शन में भी बुद्ध भिक्षु-संघ या भिक्षुणी-संघ के आवास या विहार के समर्थक नहीं थे। भिक्षुओं को उपसम्पदा के समय जिन चार निश्रयों की शिक्षा दी जाती थी, उनमें से एक निश्रय के अनुसार उन्हें वृक्ष के नीचे निवास करना है। इन नियमों में अपवाद भी देखने को मिलता है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य भिक्षुओं के लिए अनेक विहार के विद्यमान होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

जैन श्रमण श्रमणियों के यात्रा सम्बन्धी जो नियम बनाये गये हैं, उनका मुख्य उद्देश्य जन-सामान्य को धर्मोपदेश देना तथा स्थान-विशेष से अपनी आसक्ति तोड़ना है। दोनों धर्मों में श्रमण श्रमणियों को पूर्व निश्चय के साथ यात्रा न करने का विवरण मिलता है। यदि मार्ग भयानक हो तो भिक्षु-भिक्षुणी संघ साथ में यात्रा कर सकते हैं। वर्षाकाल को छोड़ शेष महीने एक ग्राम से दूसरे ग्राम (ग्रामाणुगामं) विचरण करने का तथा लोगों के कल्याणार्थ उपदेश देने का निर्देश दिया है।

जैसे-जैसे जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार बढ़ता गया, जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के भ्रमण क्षेत्र में भी विस्तार होता गया। उन्हें अन्य क्षेत्रों में यात्रा करने का निषेध इसीलिए किया गया ताकि उन्हें आहार तथा उपाश्रय आदि प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। वहीं बौद्ध भिक्षुणियों को भिक्षु-संघ के साथ ही वर्षावास व्यतीत करने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि बौद्ध भिक्षुणियों के प्रवारणा (प्रतिक्रमण) उपोसथ तथा उपदेश जैसे धार्मिक कृत्य बिना भिक्षु-संघ की उपस्थिति के नहीं हो सकते हैं। इसके विपरीत जैन भिक्षुणियाँ संघ के अभाव में भी अपना वर्षावास व्यतीत कर सकती हैं एवं उपोसथ या प्रवारणा के लिए उन्हें भिक्षु संघ के समक्ष उपस्थित होना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणियों को यात्रा सम्बन्धी अनेक मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन में जैन 'श्रमण–संघ' की दिनचर्या सम्बन्धी नियमों का विस्तार से वर्णन किया गया है। मुनि की दिनचर्या के विधान के लिए दिन एवं रात्रि को चार–चार प्रहरों में बांटा गया[७]। उत्तराध्ययन के अनुसार प्रथम प्रहर में आवश्यककृत स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षा व आहार-ग्रहण, चौथे प्रहर में स्वाध्याय का विधान किया गया। इसके अतिरिक्त षट् आवश्यक, प्रतिलेखन, आलोचना, ध्यान, स्वाध्याय, भिक्षा–गवेषणा एवं तपादि दिनचर्या के प्रमुख कृत्य हैं।

जैन श्रमण–संघ के समान बौद्ध श्रमण–संघ की दिनचर्या का कोई क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त नहीं होता है। फिर भी बौद्ध श्रमण–संघ के लिए वन्दना, अध्ययन–अध्यापन, उपदेश, भिक्षाचर्या, ध्यान, समाधि आदि दिनचर्या के आवश्यक कृत्य हैं।

प्राचीन आचार्यों को ब्रह्मचर्य–मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का ध्यान था। इसी कारण प्रवज्या का द्वार सबके लिए खुला होने पर भी कुछ अनुपयुक्त व्यक्तियों को उसमें प्रवेश की आज्ञा नही थी[८]। संघ में प्रवेश के समय अर्थात् दीक्षा–काल में ही इसकी सूक्ष्म छानबीन की जाती थी।

जैसे–जैसे संघ का विस्तार बढ़ता गया, इन नियमों की अवहेलना होती गयी और तमाम सतर्कताओं एवं गहरी छानबीन के बावजूद भी अयोग्य व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) संघ में प्रवेश पा जाते थे। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छानबीन के उपरान्त भी ब्रह्मचर्य–स्खलन की अर्थात् काम आवेगों में तीव्रता की ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों ने सर्वनाश की अपेक्षा अर्द्ध विनाश को भी अपने विधान में रखा। जैन आचार्यों ने श्रमण-श्रमणियों के काम आवेगों पर संयम के लिए अध्ययन, लेखन, वैयावृत्य आदि को प्रोत्साहन दिया ताकि उन्हें इन विषयों पर सोचने का समय ही न मिले साथ ही काम सम्बन्धों में काफी सतर्कता बरतते हुए विशेष परिस्थिति में ही भिक्षु–भिक्षुणियों को स्पर्श की अनुमति दी गयी। साध्वी शील मर्यादा में रहे अतएव श्रमणी संघ में प्रर्वतनी, गणावच्छेदिनी, प्रतिहारी आदि पदों की भी व्यवस्था की गयी। भिक्षुणियों की शील की रक्षा के निमित्त आचार के वाह्य नियमों का कितना भी उल्लंघन हो, सब उचित है। संघ का यह स्पष्ट आदेश था कि शील की रक्षा के लिए भिक्षु हिंसा का भी सहारा ले सकता है। अत: इस सन्दर्भ में महाव्रतों की विराधना आदि को भी कुछ अंशों तक उचित माना गया एवं कुछ अपवाद भी स्वीकार किये गये। इस प्रकार जैनाचार्यों ने श्रमणियों के शील–भंग सम्बन्धी प्रत्येक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए उसके निवारण के लिए अनेक नियम बनाये एवं शील सुरक्षार्थ कभी–कभी व्यवस्थित नियमों में परिवर्तन भी किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन ग्रन्थों में श्रमण-श्रमणियों से सम्बन्धित नियमों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन आगम ग्रन्थों यथा–आचारांग, स्थानांग आदि की अपेक्षा परवर्ती ग्रन्थों यथा गच्छाचार, बृहत्कल्पभाष्य आदि के रचना काल के समय में भिक्षुणियों के ऊपर भिक्षुओं का और भी अधिक कठोर नियन्त्रण हो गया। स्थानांग में कुछ विशेष परिस्थितियों में श्रमण-श्रमणियों पर परस्पर एक दूसरे की सहायता करने, सेवा करने तथा साथ रहने का भी विधान था, परन्तु गच्छाचार तथा बृहत्कल्पभाष्य के रचनाकाल तक इन सब पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया।

यहां हम कह सकते हैं कि आचारांग तथा स्थानांग के रचनाकाल के समय और बाद के परवर्ती ग्रन्थों यथा गच्छाचार के समय तक नियमों में दृढ़ता दृष्टिगोचर होती है।

जैन श्रमण संघ में पुरुष और स्त्री की समानता पर बल दिया गया, परन्तु इनकी संगठनात्मक व्यवस्था पर तत्कालीन सामाजिक मूल्यों का गहरा प्रभाव पड़ा है। श्रमण-श्रमणियों के मध्य नियमों की समानताओं एवं सैद्धान्तिक उच्चादर्शों के बावजूद भी यह स्पष्ट है कि भिक्षु की तुलना में भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। बौद्ध दर्शन से यदि तुलना करें तो बुद्ध ने स्वयं संघ में स्त्री के प्रवेश के सम्बन्ध में काफी अनुनय–विनय के पश्चात् आज्ञा दी थी, अत: बौद्ध संघ में स्त्री के लिए कुछ विशिष्ट नियम बनाए गये। यद्यपि श्रमणी संघ की व्यवस्था जैन धर्म में ही प्रथमत: की गयी थी, फिर भी जैन धर्म में क्रमश: "पुरुषज्येष्ठ धर्म" एवं "अष्टगुरु धर्म" के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और श्रमणी को श्रमण के आश्रय में रहने के आदेश के विधान का वर्णन प्राप्त होता है। श्रमण ही श्रमणी को दीक्षित करता है एवं अपराधों के लिए प्रायश्चित्त एवं दण्ड देता है। श्रमणी को ये अधिकार प्राप्त नहीं थे। यद्यपि कुछ जैन विद्वान एवं धर्मानन्द कोशाम्बी प्रभृत बौद्ध विद्वानों की मान्यता है कि ये नियम भिक्षुणी संघ पर बाद में लादे गये।

जैन श्रमण–संघ में न केवल संघ की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियमों को दृढ़ता से स्थापित किया अपितु उनका उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था भी की गयी। सामान्यत: जैन आगमों में नियम भंग और अपराध के लिए प्रायश्चित्त का ही विधान है,क्योंकि दण्ड का प्रयोग हिंसा का ही एक रूप है। अत: जैन श्रमण संघ में प्रायश्चित्त की ही व्यवस्था की गयी, किन्तु जब साधक अन्त:प्रेरित होकर स्वयं प्रायश्चित्त की याचना नहीं करता है तो संघ की व्यवस्था के लिए उसे दण्ड देने का विधान किया गया, ताकि अन्य भिक्षु उससे सीख ले सकें। यद्यपि इस आत्मग्लानि या अपराध बोध का यह तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन भर इस अपराध बोध की भावना से ग्रस्त रहे अपितु वह अपराध और दोष को दोष के रूप में देखे और समझे कि अपराध एक संयोगिक घटना है और उसका परिशोधन कर आध्यात्मिक विकास के पथ पर आगे बढ़ा जा सकता है।

जैन धर्म में श्रमण-संघ की स्थापना उन नारियों के लिए वरदान सिद्ध हुई जो समाज से किसी प्रकार सन्त्रस्त थीं। ऐसी सभी नारियों को जिन्हें समाजिक प्रताड़ना झेलनी पड़ती थी और जिन्हें सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने का कोई विकल्प नहीं था, जैन धर्म के श्रमण संघ ने उन्हें आश्रय एवं भयमुक्त वातावरण प्रदान किया। श्रमण-संघ ने विद्याध्ययन के लिए स्वस्थ वातावरण प्रदान किया। ऐसे कई भिक्षु-भिक्षुणियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो आगमों एवं पिटकों में निष्णात थे।

इस प्रकार इतिहास पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में विधि शास्त्र के नियमों में इतनी कठोरता नहीं थी, लेकिन जब मुनष्य में छल और प्रवंचना की प्रवृत्ति अधिक विकसित हो गई तो संघ की व्यवस्था के लिए कठोर नियमों का विधान करना पड़ा। मनुष्य भोगों में आसक्ति रखता है और यदि उस ओर जाने के लिए उसे थोड़ा सा भी मार्ग मिलता है तो वह भोगों में गृद्ध हो आध्यात्मिक साधना तज देता है। बुद्ध ने श्रमणों को कठोर नियम नहीं दिये किन्तु इसका परिणाम बौद्ध संघ पर वामाचार के नाम से अनैतिक सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। मन की तृप्ति जब छल, कपट, ईर्ष्या और मोह-माया, मिथ्यात्व आदि से युक्त हो जाती है तो कठोर नैतिक नियम आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रमण-संघ में विधिशास्त्र की उपयोगिता कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। यह एक विशिष्ट प्रकार का आश्रयस्थल तथा सुधारगृह है जहाँ भयमुक्त अनुकूल वातावरण मिलने पर नर-नारियों को अपने ज्ञान एवं बुद्धि के चतुर्दिक विकास का सुनहरा अवसर उपलब्ध हुआ। इस प्रकार श्रमण-श्रमणियाँ विधिशास्त्रीय नियमों का परिपालन करते हुए लोक-कल्याण हितार्थ समाज को शुभ प्रेरणा देते हैं और स्वयं भी नैतिक चरम (मोक्षावस्था) की स्थिति पर पहुँचते हैं। इस प्रकार तत्कालीन समाज के लिए श्रमण-संघ का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निस्सन्देह, जैन श्रमण-संघ की स्थापना, एक ऐतिहासिकता थी। जैन साहित्य के गहन अध्ययन से पता चलता है कि श्रमणों के लिए बनाए गए विधि/नियम जैन धर्म के विकास में सहायक रहे हैं।

जैन धर्म में आचार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी है। जैन ग्रन्थों, जैसे - आचारांग, स्थानांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्पसूत्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारसूत्र, निशीथ सूत्र तथा इनके व्याख्या एवं टीका ग्रन्थों में जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के विधि से सम्बन्धित अनेक नियम प्राप्त होते हैं।

श्रमण परम्परा में विधिशास्त्र से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं जिनमें जैन श्रमण परम्परा से सम्बन्धित पहली पुस्तक मैकेन्जी की *The Account of the Jaina 1809*, इसके पश्चात् बुहलर की *Indische Sekte der Jainas* है, आधुनिक काल में भी श्रमण परम्परा पर अनेक पुस्तकें प्रकाश में आयी है *'Contribution to the History of Brahmanical Asceticism'* (H.D. Sharma), *'Early Buddhist Monachism'* (Sukumar Dutta), *'Early Monastic Buddhism* (Nalinaksha Dutta), *History of Jain Monachism* (S.B. Bhagawat), *Jain Monastic Jurisprudence* (S.B. Dev) आदि। ये पुस्तकें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें श्रमण परम्परा के आचार सम्बन्धी नियमों का एक सम्यक् चित्र उपस्थित होता है।

इस प्रकार श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले जैन एवं बौद्ध धर्म ग्रन्थों में श्रमण-संघ के लिए प्रतिष्ठापित विधि-व्यवस्था का सम्यक् निरूपण ही हमारी भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा एतद्विषयक स्वीकृत परियोजना का उद्देश्य है। दोनों धर्मों के विधि सम्बन्धी विपुल साहित्य के अध्ययन के पश्चात् यह आवश्यक लगा कि लगभग एक ही काल में विकसित तथा एक से विधि नियमों से सम्बन्धित इन दो महत्त्वपूर्ण श्रमण-संघों के आचार-नियमों का तुलनात्मक रूप से विवेचन किया जाये।

संदर्भ :

1. *Jaina Monastic Jurisprudence*, p. 3.
२. **मूलाचार**, १/१४.
३. **आचारांग**, १/२/५/९०.
४. **प्रश्नव्याकरण**, १०.
५. **दशवैकालिक**, ६/१९.
६. **डा० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृष्ठ सं: २८.
७. **उत्तराध्ययन**, २६/८..५३.
८. **वृहत्कल्पभाष्य**, भाग-४, ४१२८-४५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

देवानन्दा-अभिनन्दन

कुमार प्रियदर्शी*

वैशाली हो गया धन्य प्रभू समवशरण से
धन्य हुए नर-नारि शीश ले धूलि चरण-से ।।१।।
जय जय त्रिशला-नन्दन का जयघोष गुँजरित
मर्त्य लोक में अमृत-घट था स्वयं अवतरित ।।२।।
वर्षों की बिन-नाथ धरा के मात्र सहारे
आत्म ज्ञान आभा मंडित हो श्रमण पधारे ।।३।।
कुंड ग्राम का बहुशावक नव चैत्य सुशोभित
प्रभू-आगमन के प्रकाश से हो आलोकित ।।४।।
निर्ग्रन्थ श्रमण के आकर्षण से खिंचे सरल मन
ऋषभदत्त - देवानन्दा बैठे कर वन्दन ।।५।।
प्रभु से ज्यों ही मिली नजर देवानन्दा की
रोमांचित हो रोम रोम उर ममता जागी ।।६।।
हर्ष प्रफुल्लित बाँहों के आभूषण तड़के
गद गद नयनों में आनन्दित अश्रु झलके ।।७।।
रह रह कम्पन से तन था सम्पूर्ण सिहरता
अनिमेष दृष्टि में झाँक रही पुलकित वत्सलता ।।८।।
उमड़ा स्तन से प्यार दूध की धारा बन कर
कंचुकी भींजी, लगी छुपाने स्वयं सहम कर ।।९।।

* "आराधना" आर०एच०-८०/२०, शाहू नगर, एम०आई०डी०सी०, 'जी' चीन्च्वाद, पूना-१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणधर गौतम देख नियति का खेल निराला
हुए चकित, जिज्ञासा भर, प्रश्न कर डाला ॥१०॥
भगवन! क्या लीला है, यह है कैसा नाता
मात् वत्सला सम विह्वल है ब्राह्मण माता ॥११॥
रोमांचित, बेसुध बुध, क्या यह सोच रही है
देवानुप्रिये! आप में किसको खोज रही है ॥१२॥
वर्धमान ने चक्षु बन्द कर क्षण भर आँका
भगवत्ता का दृश्य पटल प्रज्ञा से झाँका ॥१३॥
विस्मित हो किंचित् मुस्काय रहस ये खोले
अन्तर में कर मातृ नमन, प्रकट यह बोले ॥१४॥
"गौतम! यह देवानन्दा है मेरी माता
मैंने इसके मातृ-उदर से जन्म लिया था" ॥१५॥
यह कह भगवन मौन समाधी लीन हो गए
स्तब्ध पार्षद, सभी विस्मयाधीन हो गए ॥१६॥
गौतम बूझ सके न खुद यह गूढ़ पहेली
बोले माँ से - "क्षमा, रहस यह खोलो देवी" ॥१७॥
अन्तर पीड़ा-क्षीण धात् सकुचाई क्षण भर
वीर प्रभु की स्मिति लख संप्रेषित अनन्त बल ॥१८॥
मुखर हुई देवानन्दा - "भन्ते! नारी अबला है,
उसे श्रेष्ठि सामन्तों ने हर रोज छला है ॥१९॥
मैं ब्राह्मण पुत्री, पति मेरे विज्ञ पुरोहित
जैसे ही माँ बनी खुशी भी हुई तिरोहित ॥२०॥
उस बयाईसवीं रात लाल का हरण हुआ था
बहुत रोई, भटकी, छाती पर वज्र सहा था ॥२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब समझी षडयंत्र, रानी की पुत्रेच्छा थी
महलों ने ही इस गरीब का सुख छीना था ॥२२॥
सुना महल उस दिन रोशन था मनी दिवाली
किसी इन्द्र ने रानी की झोली भर डाली ॥२३॥
इसी नृशंस कर्म के फल उसने गृह त्यागा
नहीं लजाया दूध ब्राह्मणी का, वह जागा ॥२४॥
झूठा है इतिवृत्त जो उसको क्षत्रिय जाने
ब्राह्मण और नारी को मुक्ति योग्य न माने ॥२५॥
क्रूर हृदय हैं वे जिनने की देव प्रसारित
नारि-गर्भ से भ्रूण हरण की कथा प्रचारित ॥२६॥
यह बर्बर हिंसा है मुखौटा लगा धर्म का
सत्य, अहिंसा व अचौर्य से जुड़ी अंधता ॥२७॥
आज हुई मैं पुत्रवती, प्रभु ने स्वीकारा
धन्य हुई दर्शन कर करुणा के सागर का ॥२८॥
कहते देवानन्दा हो सम्मोहित
निश्चल ध्यान मग्न होकर पद्मासन शोभित ॥२९॥
"धन्य धन्य" उद्घोष कर उठे गौतम गणधर
अभिनन्दन जिन-मातु तुम्हारा करते हम सब ॥३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

English Section

- *The Conception of Death in Buddhism and Jainism*
- *Jaina Śāsanadevatās : Source and Iconography*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Śramaṇa, Vol. 57, No. 1
January-March 2006

THE CONCEPTION OF DEATH IN BUDDHISM AND JAINISM

Dr. Pramod Kumar Singh*

Death has been variously conceived as the great equalizer, the fountainhead of existential fear and also as the basis of rejuvenation. The exploration of death-consciousness and its ontological counterpart has to do justice to these apparently incoherent aspects. Philosophers of these two philosophical traditions are in no hurry to explain away this crucial experience. Both discover a new meaning of this existential phenomenon. Death assumes a new significance by being transferred into the threshold of a life of freedom and beatitude. Thus, they reach the paradoxical position that death may be preferable to life when an individual is capable of tearing asunder the cobwebs and enter the realm of truth, freedom and illumination.

I

The Buddhist approach to death is unique in itself because the Buddha did not accept the permanent existence of the Self. The non-existence of self or *Anattā* is one of his most prominent doctrines of Buddhism. Like the Greek philosopher Heracleitus, the Buddha is a philosopher of change. Therefore, it is easy for him to accept death as moment of change. The reality of change implies the reality of time and death. We can contrast this philosophical outlook with the philosophers of eternal or non-changing reality like the Vedānta. Śaṁkarācārya does not accept change as characteristic of reality. Therefore, he relegates death to the world of illusion. But for the Buddha, death belongs to the world of reality.

But the Buddhist position is basically different from the Cārvāka position, which considers death as the final end of human existence.

* *Former Post Doctoral Fellow, I.C.H.R., New Delhi.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The former accepts the law of karman which links one life with another life. Thus, in the Buddhist philosophy, death is a link between two lives with the mediation of the law of *Karma*. A person is a peculiar combination of a group of elements. When this group complex disintegrates, death takes place. Therefore, death is a real event to some extent. The Buddhist position is slightly inconsistent if we consider the question of personal identity. If group A disintegrates, then how can group B be responsible for the deeds of group A? The candle analogy does not hold here because different candles burn with their own fuel. We cannot imagine why the light of candle "A" should affect the light of candle "B". Thus Buddhist metaphysics ends with silence. In fact, the Buddha had maintained silence about the ultimate questions of metaphysics. In the *Majjhima-nikāya* (483-8), we find the questions, which the Buddha refused to answer on the ground that they do not bring about spiritual edification. For instance, the Buddha avoided the question whether the saint exists after death and also *nirvāṇa*. It is quite significant because the Buddha could have identified the saint's death with his extinction. By avoiding any categorical answer, the Buddha kept his distance from the materialistic school. We read as follows in the *Majjhima-nikāya*:

"How is it, Gotama? Does Gotama hold that the saint both exists and does not exist after death, and that this view alone is true, and every other false?"

"Nay, Vaccha! I do not hold that the saint both exists and does not exist after death, and that this view alone is true, and every other false."

"But how is it, Gotama? Does Gotama hold that the saint neither exists nor does not exist after death, and that this view alone is true, and every other false"?

"Nay, Vaccha! I do not hold that the saint neither exists nor does not exist after death, and that this view alone is true, and every other false.."[1]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In the light of the doctrine of no soul (*anattā*) and the metaphysical silence of the Buddha, the Buddhist doctrine of *karma* appears to be very difficult to understand. If death is not the end of a man, then how can the elements or *dhammas* transmigrate? There is nothing to be reborn because the human being is a momentary combination of elements or *dhammas*, which possess no permanent existence. The problem before us is: what is the essence of man, which survives death? *Karma* or deeds or performances cannot constitute a substantive reality.

Let us now turn to the other aspects of the Buddhist philosophy of death. As a young prince, Guatama had encountered death at an existential level. It was an existential experience, not an intellectual problem before him. This experience of death had shaken him to the backbone. His young mind realized for the first time that death is an indispensable part of human existence. We know that this motivated the prince to engage in philosophical reflections. Gautama gradually became the Buddha after such existential experiences. Time and change or what the existentialist philosophers called temporality appear prominently as key problems in his consciousness. His reaction to death is similar to what Yudhiṣṭhira had commented to the sylvan god or the Yakṣa. He commented that man forgets the reality of death and therefore, he lives an inauthentic life. Aśvaghoṣa describes this encounter with death in his *A Life of Buddha* in the following words: -

"Four persons passed by, carrying corpse; and the prince, shuddering at the sight of a lifeless body, asked the charioteer, what is this they carry? There are streamers and flower garlands; but the men that follow are overwhelmed with grief!"

The charioteer replied: "This is a dead man; his body is stark; his life is gone; his thoughts are still: his family and friends who loved him now carry the corpse to grave."

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

And the prince was full of awe and terror: "Is this the only dead man, he asked, or does the world contain other instances?"

With a heavy heart the charioteer replied: "All over the world it is the same. He who begins the life must end it. There is no escape from death".

With bated breath and stammering accents the prince exclaimed: "O worldly men! How fatal is your delusion! How fatal is your delusion! Inevitably your body will crumble to dust, yet carelessly unwittingly, ye live on."[2]

After getting enlightenment the Buddha did not give up his concern for the problem of death. He taught his disciples not to shed tears for diseased and death. In the mustard seed parable, the Buddha had set fourth his conception of death and called upon his disciples to face death as a fact of life. Gotamī was full of grief after the death of only son. She had approached the Buddha to revive the consciousness of the dead child.

The Buddha had asked her to bring a handful of mustard seeds from a house where no one had lost a child, husband, wife or parent. She had gone from house to house and discovered that every family is afflicted with the grief for the death of a near and dear one. She had realized that death is common to all and a person ought to seek the path to immortality. She turned to Buddha for spiritual guidance. The Buddha expounded the nature of human existence as full of suffering, death and separation. The wise man maintains the peace and tranquility of his mind in the face of such afflictions. He teaches that death is an inevitable event of life and it spares no body. Even the most powerful human beings are mercilessly preyed upon by death. Man is simply a combination and when a combination disintegrates one must not lament. In the following words he highlights a dimension of existence, which Martin Heidegger had described as being towards death the Buddha says:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"As ripe fruit are early in danger of falling, so mortals when born are always in danger of death.

"As all earthen vessels made by the potter end in being broken, so is the life of mortals.

"Both young and adult, both those who are fools and those who are wise, all fall into the power of death; all are subject to death.

"So the world is afflicted with death and decay, there the wise do not grieve, knowing the terms of the world.[3]

From the above sermon, it is clear that the Buddha accepts temporality and finitude as the central characteristics of human existence. The other systems of Indian philosophy confined changes to the external and non-essential dimensions of human existence. But as this sermon reveals, the Buddha ascribes much more reality to death than the classical philosophers. But he does not corroborate the materialistic approach to death.

We come across a discussion about eschatological matters in the "*Mahāparinibbāna Sutta*". There the Buddha presents his position regarding death in philosophical terms. He points out that the individuals in bondage have to go though suffering and death again and again but liberated individuals are free from anxiety about death. Speaking of him the Buddha declares.

"Hell is destroyed for me, and rebirth as an animal, or a ghost, or in any place of woe. I am converted; I am no longer liable to be reborn in a state of suffering, and am assured of final salvation".

Speaking of the advanced spiritual practitioners, the Buddha declares that death is no longer a torment for them. Death gradually loosens its grip over such enlightened persons and ultimately they break out of the chains of death. He says: -

"Those who have died after the complete destruction of the three bonds of lust, of covetousness and of the egotistical clinging

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to existence, need not fear the state after death. They will not be reborn in a state of suffering; their minds will not continue as *karma* of evil deeds or sin, but are assured of final salvation.

"When they die, nothing will remain of them but their good thoughts, their righteous acts, and the bliss that proceeds from truth and righteousness. As rivers must at last reach the distant main, so their minds will be reborn in higher states of existence and continue to be pressings on to their ultimate goal which is the ocean of truth, the eternal peace of *nirvāṇa*."

In the same "*Mahāparinibbāna Sutta*"; we observe Ānanda being afflicted with grief and anxiety regarding the approaching death of his Master. The Buddha could understand Ānanda's mental condition and again characterizes death as the inevitable end of human existence. He presents death as a reality, which nobody can escape. Even if there is rebirth, still death brings a particular combination of elements to its ultimate end. From this point of view death is a reality for the particular individual concerned. The following is the most significant declaration of the Buddha regarding death:

"Have I not formerly declared to you that it is in very nature of all compound things that they must be dissolved again? We must separate ourselves from all things near and dear to us, and must leave them. How then, Ānanda, can it be possible for me to remain, since everything that is born, or brought into being, and organized, contains within itself the inherent necessity of dissolution? How, then can it be possible that this body of mine should not be dissolved? No such condition can exist! And this mortal existence, O Ānanda, has been relinquished, cast away, renounced, rejected and abandoned by the Tathāgata."[6]

It was the Buddha's definite opinion that only the fools conceived of the idea of self. The wise man finds no ground to build up the concept of the self because he knows that all compounds are dissolved in course of time. Even he did not claim any immortality

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

for himself. It is the concept of self, which degrades an individual by creating egoism in his heart. One is so pre-occupied with one's self that one forgets the truth. The self is the root cause of bondage. It is just a name of a compound, which makes us anxious about our survival after death only because we wrongly consider the self as separate from the physical constituents.

II

The death of the body is a less significant phenomenon for Jainism. In this context Jainism is closer to Hindu metaphysics of the Sāṁkhya and Vedānta persuasions. The Jaina metaphysical scheme accepts a plurality of souls (*jīva*) and five categories of non-living entities (*ajīva*) the eternal categories of ether (*ākāśa*), the means of movement (*dharma*) and the means of rest (*adharma*), time (*kāla*) and matter (*pudgala*). Only *Pudgala* and *Jīva* are active, infinite and constant in number. Mahāvīra held that not only the animals and plants but also such entities as stones, rocks, running water and many other natural objects have souls.

In itself the soul is omniscient, blissful and naturally bright. The number of souls in the universe is infinite. The souls are fundamentally equal but they differ owing to the adherence of matter in the fine atomic form. *Karma* is a kind of subtle matter, which is invisible to the human eye. As we know, this is a unique doctrine of Jainism because the other systems consider *karma* as immaterial. This *karma* is responsible for the bondage of the souls. The latter's association with and dissociation from the karmic matter causes the birth and death in a cycle of transmigration. The influx (*aśarva*) and bondage (*bandha*) of *karma* into the soul causes the material embodiment and death of the souls. Professor A.L. Basham presents this doctrine in the following words:

"The naturally bright soul becomes dulled and clouded over by karmic matter and thus acquires first a spiritual and then a material body. The obfuscation of the soul is compared to the gradual clouding

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of a bright oily surface by motes of dust. *Karma* adheres to the soul as a result of activity. Any and every activity induces *karma* of some kind, but deeds of a cruel and selfish nature induce more, and more durable *karma* than others. The *karma* already acquired leads to the acquisition of further *karma*, and thus the cycle of transmigration continues in indefinitely".[7]

In Jainism, any one who has dissipated his all *karmas* can get salvation. Like Hinduism and Buddhism it grants salvation for all. Jainism does not consider a monastic life essential for the attainment of salvation. Bharata was not a monk but he got liberated. Jainism has got a certain code of conduct for monks (*śramaṇācāra*) as well as lay devotees (*śravakācāra*). Monk's life consists of severe discipline and austerity including fasting, self-mortification, study and meditation. Such a rigorous ascetic life can rid a person from the influx of new karmic matter (*dravya karma*) into the soul and also the annihilation of the remnants of karmic matter. Jainism lays more stress on the physical aspects of austerity while Buddhism lays more stress on the volitional aspect.

Asceticism reached its climax in Jainism though it was merely one aspect of Hindu austerity. Prof. Basham presents a glimpse of Jaina penance for *Nirvāṇa* as follows:

"The regimen of the Jaina monk was, and still is, strict in the extreme. At his initiation his hair was not shaved, but pulled out by the roots. He subjected himself to much hardships, such as meditating in the full sunlight of the Indian summer, or maintaining as uneasy posture for long periods on end, though Jainism did not permit the more spectacular penance of some Hindu ascetics. The monk's frugal meals were interrupted by numerous fasts, and many monks starved themselves to death, following the example of Mahāvīra himself."[8]

The ultimate goal of such extreme asceticism was to get rid of death or to remove an unwelcome adjunct to the true being of the individual.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Like the thinkers of the Upaniṣads and the Buddha, Mahāvīra frequently cited the fact of death as an object of philosophical reflection. Such reflection was supposed by him to lead a person to detachment. The transitoriness of life is made evident by such philosophical reflection. We realize that a hedonistic life is ultimately futile. Wisdom is the result of such philosophical reflections.

In its essence, the Jaina approach to death is very close to the Hindu approach as set forth especially in the *Bhagavadgītā*. Both these religions accept the duality between the soul and the body. Therefore, they do not consider death as a momentous event of human existence as the Existentialist thinkers like Martin Heidegger does. Heidegger holds that man experiences dread (angst) when he reflects on his own death. This dread or angst is an essential element of human existence. This can be minimized by an authentic life, but it can never be eliminated.[9]

Hinduism and Jainism hold just the reverse viewpoint. Lord Kṛṣṇa taught Arjuna not to grieve for the deaths of his near and dear ones in the battle of Mahābhārata. He gave the argument that it is the body, which dies not the soul. And it is soul, which is the essence of my existence, not the body. Then a wise man should never shed tears over the death of his near and dear ones and, besides, he should not fear death. This very position is held by the following verses of the Digambara monk of the 4th century in his *Iṣṭopadeśa*:

"Death is not for me, why then should I fear?
Disease is not for me, why then should I fear.
I am not a child, nor a youth, nor an old man.
All these states are only of my body.
The soul is one thing, matter another.
That is the quintessence of truth,
Whatever else may be said?
Is merely its elaboration."?[10]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The idea of the pollution or contamination of the soul is found in other religious philosophies too. But the Jaina doctrine gives a material or literal interpretation to this concept of pollution. Being contaminated by *karma* - matter, the soul becomes involved in the cycle of transmigration or *saṁsāra*. It forgets its true nature as pure, perfect and omniscient. Its search for truth is obscured by passions (*kaṣāya*). Ācārya Umāsvāti points out in his *Tattvārthādhigama Sūtra* as follows: -

"The causes of bondage are wrong belief, non-renunciation, carelessness, passions, and union (yoga) of the soul with the mind, body and speech". [11]

During the long process of penance, the soul returns to itself. The highest mental austerity consists of concentration. And the highest concentration consists of the total absorption of the soul in itself.[12]

Ācārya Umāsvāti describes the state of liberation as complete dissociation from all karmic matter and, hence, from the body. This dissociation turns death into an insignificant event in the life of a person. We can call it non-event from the point of view of the soul. This is an objective approach to the problem of death. A wise man is supposed to adopt this objective point of view. In the subjective viewpoint, a person gets anxious about his individual death or the loss of a particular body. From the objective point of view adopted in Jainism and Hinduism, death belongs to the world of matter, hence, to grieve for somebody's death or to fear one's own death is a mark of ignorance.

The Jaina philosophy accepts fourteen stages on the path to complete liberation (*Guṇasthānas*). We need not elaborate all the stages here; our main concern is with the final stage when the soul gives up its association with the body and the cycle of birth and death. Prof. T.G. Kalghatgi portrays the final stages as follows:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"The final stage is the stage of absolute perfection, called '*ayoga kevalī*'. Here all the remaining *karmas* are destroyed. The soul prepares itself for the final stage first by stopping all the gross activities of the body, mind and speech. Then the subtle activities are stopped, like respirations, etc. Then it enters the stage of '*śukladhyāna*' or pure concentration, which is infallible. The soul has now attained the peaceful perfection. The influx of *karma* is completely stopped and the soul is free from all karmic dust."[13]

The conception of man in Jainism is fundamentally dualistic in nature; hence death is treated as only a natural event like the dropping of a ripe fruit or drop of rain. This leads the Jaina thinkers to adopt an asceticistic attitude towards the human body. Nothing that we gain through the body appears of any value to them, except the mortification of the body in severe penance.

To conclude, it is Buddhism, which explores death both as a subjective and objective phenomenon. The Buddha's awareness of his own death had led him to call upon his followers to be lamps unto themselves (*atta deepo bhava*). Being devoid of dualism, Buddhism treats death as a significant phenomenon and draws lessons from its inevitability. Death does not amount to a simple change of garment nor a desirable event for the sake of a faster realization of liberation. A Bodhisattva in the Mahāyāna tradition prolongs his life to spiritually elevate mankind spiritually. Death is non-event in Hinduism and Jainism, but not so in Buddhism as it consists of the end of a particular conglomeration. But Buddhism does not draw the logical implications of this position by a sweeping stroke. If 'something' transmigrates to another body, then the Jaina and Hindu conceptions of death appear more logical and systematic. Despite this inconsistency Buddhism is closer to existentialism in its pre-occupation with the phenomenon of death, with death as a primary and existential aspect of our being, not as a secondary and transitory event. Such an approach to death logically implied an ethics of compassion and service while attempting to rise above the individualistic pre-occupation with one's own salvation.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Reference:

1. S. Radhakrishnan & C.A. Moore (ed.) *A Source Book in Indian Philosophy,* New Jersey : Princeton University Press, 1973, p. 289.
2. Paul Carus (ed), *The Gospel of Buddha,* New Delhi National Book Trust, 1975, p. 14.
3. *Ibid.* p. 170-1.
4. *Ibid.* p. 182.
5. *Ibid.* p. 182.
6. *Ibid.* p. 191.
7. A.L. Basham, *The Wonder that was India,* Calcutta; Rupa & Co, 1967, p. 293.
8. *Ibid.* p. 294.
9. Robert Solomon, *From Rationalism to Existentialism,* New York, 1972,
10. p. 222.
11. A.L. Basham, *The Wonder that was India,* Calcutta; Rupa & Co., 1967, p. 297.
12. S. Radhakrishnan & C.A. Moore (ed.) *A Source Book in Indian Philosophy,* New Jersey : Princeton University Press, 1973, p. 259.
13. *Ibid.* p. 260.
14. T.G. Kalghatgi, "*Karma in Jaina Thought*". In S.S. Rama Rao Pappu, (ed) *The Dimensions of Karma,* Delhi; Chanakya Publications, 1987, p. 111.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Śramaṇa, Vol. 57, No. 1
January-March 2006

JAINA ŚĀSANADEVATĀS : SOURCE AND ICONOGRAPHY

Dr. Nandini Verma*
Dr. Ratnesh Verma**

The term Śāsanadevatā in Jaina text is used for the Yakṣa and Yakṣī attending upon each of the 24 Jinas as guardian deities protecting the *Saṅgha* and occupying a position subsidiary to their respective Jinas. The Yakṣas as *Vyantara devatās* are conceived in Āgamic literature both as benign and malefic deitics. As a benign spirit Yakṣas bestow happiness but with malefic character they may bring about agony and disaster.

The Jaina Āgamas particularly the *Uttarādhyayana Sūtra,* indicate that Yakṣa concept was going through a transition. They are referred to as using their specific powers in a benevolent way for the nobler cause of the society. The Yakṣarāja later known as Sarvānubhūti and also Kubera has been considered as the presiding spirit over wealth in Indian tradition. The Jaina who represents a mercantile class especially endeared them to the yakṣa cult and appropriated them among the class of their highest divinities. Yakṣarāja by the 8th-9th Century A.D. was elevated to the position of a Śāsanadeva associated with Jina. Similarly the reference to Bahuputrikā Yakṣī in the Āgama texts assumes a new dimension and ultimately she too like Yakṣārāja occupied the position of a Śāsanadevī. It may be noted that these two (Sarvānubhūti and Ambikā) were earliest of all the 24 Yakṣa-Yakṣī pairs attending upon the Jinas as the Śāsanadevatā. Their iconographic features i.e. money-bag with Sarvānubhūti and the association of children with Ambikā

* *Reader, V.K.M. Degree College, Varanasi*
** *Regional Cultural Officer, U.P. Govt. Allahabad*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

were borrowed from early concept of Maṇibhadra Yakṣa and Bahuputrikā Yakṣī.

The early Jaina works of 6th to 8th Century A.D. discuss the iconographic features of Jaina Śāsanadevatās such as Yakṣarāja, (Sarvānubhūti) Dharaṇendra, Ambikā, Padmāvatī and Cakreśvarī who had been prevelant in some form or other in early tradition of almost all the sects. However, the list of Yakṣa-Yakṣī pairs for all the Jinas were finalized in both the Śvetāmbara and Digambara traditions during 8th-9th Cent. A.D. while their detailed individual iconographic features was enunciated in the texts around 10th-12th Cent. A.D.

In art, Śāsanadevatā were introduced around 6th Cent. A.D. The earliest pair of Sarvānubhūti and Ambikā continued to be shown with almost all the Jinas at least up to 9th Cent. A.D.

After 9th Cent. gradual process of showing different Yakṣa-Yakṣī pairs with the Jina was in vogue. Most of the Yakṣa-Yakṣī pairs were usually shown with *abhaya* (or varad) *mudrā* and a fruit (or kalaśa), which distinctly indicate the divine, and the bestowing nature of Śāsanadevatās.

The Jinas representing spiritual phenomenon sustained their unceasing respect for austerity and renunciation while Śāsanadevatā as the bestower of material abundance kept on changing their forms particularly in art to suit the socio-religious obligations.

Around 11th Cent. fixed forms of the Yakṣa and Yakṣī were visualized. The number of their hands increased and the attributes, which were added, are in form of weapon of wars like mace, shield, sword, spear, etc. This iconography development was obviously not a sudden change but reflects the changing attitude of the society and, also their requirement. Interestingly, during the 11th Century A.D. our country was facing foreign intruders who were particularly aiming at ravaging our religious edifices. To combat the foreign threat probably it become necessary to change the form of the deities

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to inspire and instigate the nerves of the people. Jains too kept themselves well in tune with need of the time by encouraging the worship of Śāsanadevatā holding different protecting weapons. We feel beside the *tantric* element this point was also instrumental for such iconographic development.

When the concept of Śāsanadevatā was introduced, they were supposed to guard the Jina-*Saṅgha*. They were appointed by Indra to attend upon the Jina at *Samvasaraṇa*. The early pair of Yakṣa and Yakṣī used to show a money-bag and fruit or a bunch of mangoes and child, which denote important symbolic meaning. A money-bag represents "wealth" which had to play an important role in worldly affairs especially for the propagation of *Saṅgha* ideals and maintaining a prosperous life. Similarly, fruit signifies the fulfillment of desires. The depiction of Ambikā with child showing continuity of life was to attract the masses of the society who used to worship her as "Mother Goddess" from the early centuries.

At the time of showing these semi-divine figures Jainas had no definite planning in their mind. They kept on showing this early pair without any notable development. However, around the 9th Century A.D. at the Digambara sites an effort has been made to assimilate the Śvetāmbara Mahāvidyās to the concept of Śāsanadevatā. The effort is discerned at the Deogarh temple No. 12 where most of the Yakṣīs are inscribed with the names of Mahāvidyās. However, the names of Yakṣas in some cases were adopted from other cults as well, the best example could be seen in assimilation of Gomukha, Īśvara as Yakṣas of Ṛṣabhanātha and Abinandananātha respectively. With such changes Jainism seem to assume a new role, but they never overlooked their basic tenets. Jinas were always accorded the highest position even in the independent figures of Śāsanadevatā. Jinas were given a position at the top of such figures, perhaps indication of paramount spiritual level.

The representation of Śāsanadevatās seems to have given through three different stages. In the first stage only Sarvānubhūti

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and Ambikā were shown as the common to all the Jina, which show the early form of Yakṣa-Yakṣī pair. In the second stage the yakṣa-yakṣī pairs (usually different from the pair of the first stage) differ slightly from case to case but fixed types were not created. There was no visible connection between particular Jina and a particular pair. Their representation may sometimes vary even in the images of the same Jina. The third stage (C. 11th Cent. A.D.) witnessed the theoretical sanction of the iconographic features of the Śāsanadevatās as envisaged in Jaina texts. But in art of all of them never found representational prominence except Gomukha Cakreśvarī, Sarvānubhūti, Ambikā, Dharaṇendra, Padmāvatī and Mataṅga Siddhāyikā respectively the Śāsnadevatā of Ṛṣabhanātha, Neminātha, Pārśvanātha and Mahāvīra. However, the variation in the iconographic features of Śāsanadevatā reflects regional or local tradition though fundamentally they agree with textual prescriptions.

References:

1. *Uttarādhyayana Sūtra*, Trans. H Jacobi, *Sacred Book of the East*, Vol. 45 Part-2, Oxford 1895, Delhi 1973 (Reprint)
2. *Pratiṣṭhāsāra-saṅgraha*, Vasunandi, Manuscript, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad.
3. *Pratiṣṭhāsāroddhāra*, Āśādhara, Ed. Manoharlal Shastri, Bombay 1917.
4. *Harivaṁśa-purāṇa*, Jinasena, Ed. Pannalal Jain, Jnanapeeth Murtidevi Jaina Granthamala, Sanskrit Granthanka 27, Varanasi 1962
5. Shah U. P., *Yakṣas Worship in Early Jaina Literature*, J. O. E., Vol III, Issue I, Sept. 1953, pp 54-71.
6. Tiwari Maruti Nandan Prasad, *Jaina Pratimā Vijñāna*, PVRI, Varanasi, 1981.

   Verma, Ratnesh Kumar, *Iconography of Jaina Śāsanadevatā In Madhya Pradesh*, unpublished thesis, BHU, 1985.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

विद्यापीठ के प्राङ्गण में

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं में परस्पर आदान-प्रदान विषय पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी (दिनांक – २६-२८ फरवरी, २००६)

भारतीय संस्कृति वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं का समन्वित रूप है। दोनों ही परम्परायें प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति में प्रवाहित होती आ रही हैं। अत: स्वाभाविक है कि दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया होगा। दोनों ने एक-दूसरे को कहाँ, कब और कैसे एक-दूसरे को प्रभावित किया है, इसी उद्देश्य को परिलक्षित करते हुऐ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी और महर्षि सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के संयुक्त तत्त्वावधान में दिनांक २६ से २८ फरवरी २००६ तक **''वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं में परस्पर आदान-प्रदान''** विषय पर एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया।

संगोष्ठी का प्रारम्भ वैदिक एवं श्रमण परम्परा के मंगलाचरण से हुआ। वैदिक मंगलाचरण डॉ० पतञ्जलि शास्त्री तथा जैन मंगलाचरण स्थानकवासी जैन मुनि परमपूज्य श्री राममुनि जी ने किया। परम्परा के अनुसार दीप प्रज्ज्वलन तत्पश्चात् अतिथियों का स्वागत सम्मान, अंगवस्त्रं एवं प्रतीक चिह्न प्रदान कर किया गया। तत्पश्चात् प्रो० महेश्वरी प्रसाद, निदेशक पार्श्वनाथ विद्यापीठ और डॉ० अमलधारी सिंह, कार्य अधिकारी, महर्षि सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन ने अपनी-अपनी संस्थाओं का परिचय दिया।

पश्चात् मुख्य अतिथि, सारस्वत अतिथि द्वारा विद्या की देवी सरस्वती तथा श्रमण भगवान महावीर के चित्रों पर माल्यार्पण का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। पार्श्वनाथ विद्यापीठ का परिचय एवं विषय प्रवर्तन संस्थान के निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद ने किया। उन्होंने कहा कि बौद्ध एवं जैन दोनों धर्मों की मान्यता है कि कोई जन्मना ब्राह्मण नहीं होता, ब्राह्मण तो कर्म से ही होते हैं। प्रो० प्रसाद ने कहा कि यूरोप में मार्टिन लूथर के सुधारवाद के पहले ही भारत में लोंकाशाह ने जैन धर्म में सुधार की अलख जगाई। उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि प्रो० पंजाब सिंह,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए कहा कि वेद एवं जैन आगम का ज्ञान मात्र आध्यात्मिक ज्ञान ही नहीं है, यह सारे ज्ञान का संग्रह है। वेद सम्पूर्ण मानव मात्र के मूल्य, ज्ञान तथा जीवन के प्रतीक हैं। वेद में विज्ञान और सामान्य ज्ञान दोनों ही सन्निहित हैं। सारस्वत अतिथि के रूप में पधारे प्रख्यात गणितज्ञ प्रो० एस०पी० सिंह, कनाडा ने शून्य पर सारगर्भित व्याख्यान दिया। उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता प्रो० सुरेन्द्र सिंह, कुलपति, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी ने की। प्रो० सिंह ने मनुष्य को परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना बताते हुए कर्म के सिद्धान्त पर जोर दिया।

संगोष्ठी का द्वितीय सत्र अपराह्न ३.०० बजे प्रो० जयप्रकाश सिंह की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ जिसमें पाँच शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये। पत्र वाचकों में डॉ० नन्दलाल जैन, रीवा; डॉ० रेखा चतुर्वेदी, गोरखपुर; डॉ० सोमनाथ नेने, उज्जैन; डॉ० एम०एस० मिश्र, लखनऊ; प्रो० सच्चिदानन्द श्रीवास्तव, गोरखपुर आदि प्रमुख थे।

दिनांक २७.०२.२००६ को प्रातः ९.३० बजे संगोष्ठी का प्रथम सत्र प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। इस सत्र में विभिन्न विषयों पर छः पत्रों का वाचन हुआ। जिन विद्वानों ने इस सत्र में अपने शोध पत्र प्रस्तुत किए उनमें – डॉ० एम०पी० अहिरवार, वाराणसी; डॉ० सुधा जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी; डॉ० सुषमा सिंघवी, जयपुर; डॉ० ईश्वरीशरण विश्वकर्मा, गोरखपुर; प्रो० ब्रजबिहारी चौबे, उज्जैन; डॉ० जानकी प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी मुख्य हैं।

द्वितीय सत्र अपराह्न ११.३० बजे प्रो० अंगनेलाल, पूर्व कुलपति, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ जिसमें डॉ० वंशीधर भट्ट, जर्मनी; डॉ० विभा उपाध्याय, उज्जैन; डॉ० रमा पाण्डेय, वाराणसी; डॉ० इरावती, वाराणसी; डॉ० शारदा अय्यर, वाराणसी आदि ने अपने शोध-पत्रों का वाचन किया।

तृतीय सत्र अपराह्न २.३० बजे प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के अध्यक्ष प्रो० एन०एच० सामतानी थे। इस सत्र में डॉ० हरशिंकर पाण्डेय, डॉ० महेन्द्र पाण्डेय, स०सं०वि०वि०, वाराणसी; प्रो० राममूर्ति शर्मा, उज्जैन; प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी; डॉ० निहारिका, दिल्ली आदि विद्वानों ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये। प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने स्लाइड के माध्यम से अपने शोध-पत्र के अनेक बिन्दुओं को स्पष्ट किया।

इसी दिन संध्या में कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया था। कवि गोष्ठी प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। गोष्ठी में भाग लेने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले कवियों में प्रो० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी, डॉ० कौशलेन्द्र पाण्डेय, डॉ० उपेन्द्र पाण्डेय, प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी, डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी, डॉ० कृष्णकान्त शर्मा, डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास, डॉ० श्री किशोर मिश्र, प्रो० अमरनाथ पाण्डेय, डॉ० कमलाप्रसाद सिंह, डॉ० चन्द्रकान्त द्विवेदी एवं प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय, वाराणसी के नाम उल्लेखनीय हैं।

दिनांक २८.०२.२००६ को प्रात: ९.३० बजे प्रो० संघसेन, दिल्ली की अध्यक्षता में प्रथम सत्र का शुभारम्भ हुआ। इस सत्र में जिन विद्वज्जनों ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये उनके नाम हैं – डॉ० अरुण प्रताप सिंह, बलिया; डॉ० दीनानाथ शर्मा, गुजरात विश्वविद्यालय; प्रो० सीताराम दूबे, उज्जैन; प्रो० ब्रजबिहारी चौबे, उज्जैन; प्रो० महेश्वरी प्रसाद, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

द्वितीय सत्र भी प्रो० संघसेन, दिल्ली की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। इस सत्र में जिन विद्वानों के शोध-प्रस्तुत किये गये उनमें डॉ० अर्चना शर्मा, डॉ० अर्पिता चटर्जी, वाराणसी; प्रो० संघसेन, दिल्ली; प्रो० बिन्देश्वरी प्रसाद मिश्र, उज्जैन उल्लेखनीय हैं।

पत्रों की बाहुल्यता के कारण प्रो० सीताराम दूबे, उज्जैन की अध्यक्षता में एक विशेष सत्र भी चलाया गया जिसमें अनेक शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये। इस सत्र में जिन विद्वानों ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये वे हैं – कुमारी सरिता शुक्ला, डॉ० किरण श्रीवास्तव, कुमारी अभिलाषा त्रिपाठी; कुमारी अदिति, कुमारी ऋचा सिंह, डॉ० अनामिका सिंह, डॉ० हेरम्भ पाण्डेय, डॉ० हरीश्वर दीक्षित, श्री योगेन्द्र कुमार मिश्र, डॉ० एस०एस० चन्देल एवं डॉ० संध्या श्रीवास्तव, वाराणसी।

तृतीय सत्र का प्रारम्भ ३.०० बजे प्रो० ब्रजबिहारी चौबे की अध्यक्षता में हुआ। इसमें डॉ० सावित्री सिंह, डॉ० बी०आर० मणि, सुश्री तीष्य रक्षिता सिंह, डॉ० शारदा सिंह आदि विद्वानों के शोध-पत्र प्रस्तुत किये गये।

सायं ४.०० बजे समापन सत्र प्रारम्भ हुआ। समापन सत्र की अध्यक्षता प्रो० ब्रजबिहारी चौबे, उज्जैन की अध्यक्षता में हुआ। मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए प्रो० सिंह ने कहा कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'वैदिक एवं श्रमण परम्पराओं के परस्पर आदान-प्रदान' विषयक संगोष्ठी की महती आवश्यकता थी। आज हम पाश्चात्य अंधानुकरण कर रहे हैं लेकिन हम अपनी भारतीय संस्कृति की ओर नहीं देख रहे हैं। आज आवश्यकता है उसे जानने और समझने की। सारस्वत अतिथि डॉ० बी०आर० मणि ने वैदिक एवं श्रमण परम्परा की ऐतिहासिकता पर प्रकाश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डाला। समापन सत्र का कुशल संचालन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सहायक निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया और धन्यवाद ज्ञापन डॉ० विजय कुमार, प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने किया।

इस संगोष्ठी की विशेषता यह रही कि इसके सभी सत्र में वाराणसी तथा वाराणसी से बाहर के विद्वान उपस्थित रहे। प्रत्येक पत्रवाचन के पश्चात् प्रश्नोत्तर में प्रायः सभी विद्वान भाग लेते थे। कुछ पत्रों पर तो एक-एक घंटे तक प्रश्नोत्तर हुए। इसमें भाग लेने वाले स्थानीय विद्वानों में प्रो० अमरनाथ पाण्डेय, पूर्व आचार्य, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी; प्रो० पी० दूबे, प्रो० पी० पंकज, प्रो० एन०क्यू० पंकज, प्रो० कमला प्रसाद सिंह, डॉ० विमलेन्दु कुमार, डॉ० कमलेश कुमार जैन, का०हि०वि०वि०, वाराणसी; प्रो० फूलचन्द जैन, स०सं०वि०वि०, वाराणसी; डॉ० झिनकू यादव, निदेशक, मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, डॉ० अनेकान्त जैन, दिल्ली, फादर एम० सेटिंयागो, फादर रजनीकान्त, वाराणसी; डॉ० पतंजलि शास्त्री, म०गां०का०वि०, आचार्य शरद कुमार साधक, वाराणसी। वाराणसी से बाहर के विद्वानों में Dr. B. Bhatt (Germany), Ms. Uma Vesci (Italy), Ven. Bamunugam Shanthavimal Thero (Srilanka), Ms. Kyung-Seo (America), Ms. Pamela John (America) आदि विद्वान उपस्थित थे। महर्षि सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के कार्य अधिकारी, डॉ० अमलधारी सिंह व वहाँ से आये सभी लोगों ने बड़े ही मनोयोग तथा सौहार्दपूर्ण भाव से संगोष्ठी को सफल बनाया।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध-प्रतियोगिता २००५-०६ का परिणाम घोषित

'विज्ञान के क्षेत्र में अहिंसा की प्रासंगिकता' विषय पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा आयोजित निबन्ध-प्रतियोगिता २००५-०६ का परिणाम घोषित कर दिया गया है। इस निबन्ध प्रतियोगिता के लिए ग्रुप 'ए' (१८ वर्ष से कम आयु वर्ग वाले प्रतिभागी) एवं ग्रुप 'बी' (१८ वर्ष से अधिक आयु वर्ग वाले प्रतिभागी) में कुल क्रमशः ५ एवं २० निबन्ध प्राप्त हुए। निर्णायक मण्डल (प्रो० सुदर्शन लाल जैन, पूर्व कला संकाय प्रमुख, का०हि०वि०वि०, प्रो० फूलचन्द जैन, जैन दर्शन विभाग, श्रमण विद्या संकाय, स०सं०वि०वि० एवं प्रो० धर्मचन्द जैन, एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर) ने दोनों ग्रुपों के लिए जिन प्रतिभागियों का प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार हेतु चयन किया है, वे हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रुप 'ए' का परिणाम

क्र०सं०	पुरस्कार श्रेणी	नाम प्रतिभागी	पुरस्कार राशि
१.	प्रथम पुरस्कार	हिमांशु सिंघवी, जोधपुर	२५००/-
२.	द्वितीय पुरस्कार	कुमारी प्रियंका चोरडिया, छिपावड़	१५००/-
३.	तृतीय पुरस्कार	कु० निकिता चोपड़ा, राजनादगाँव	१०००/-

इन तीनों प्रतिभागियों ने निबन्ध हेतु निर्धारित पूर्णांक १५० में से क्रमशः ९०, ७७ एवं ७६ अंक प्राप्त कर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त किया।

ग्रुप 'बी' का परिणाम

क्र०सं०	पुरस्कार श्रेणी	नाम प्रतिभागी	पुरस्कार राशि
१.	प्रथम पुरस्कार	श्रीमती सरोज गोलेछा, राजनादगाँव	२५००/-
२.	द्वितीय पुरस्कार	श्रीमती नूतन मितेश जैन, सघनावां एवं श्रीमती कमलिनी बोकारिया, बीड, संयुक्त रूप से	१५००/-
३.	तृतीय्र पुरस्कार	श्री छैल सिंह राठौड़, जोधपुर एवं श्री राम स्वरूप जैन, सवाई माधोपुर संयुक्त रूप से	१०००/-

निबन्ध-प्रतियोगिता हेतु निर्धारित पूर्णांक १५० में से प्रथम पुरस्कार प्राप्त श्रीमती सरोज गोलेछा को कुल ११७ अंक, द्वितीय पुरस्कार के लिए संयुक्त रूप से विजेता श्रीमती नूतन मितेश जैन एवं श्रीमती कमलिनी बोकारिया को ११४-११४ अंक तथा तृतीय पुरस्कार के संयुक्त विजेता श्री छैल सिंह राठौड़ एवं श्री राम सिंह जैन को क्रमशः ११३, ११३ अंक प्राप्त हुए।

ग्रुप 'बी' के लिए द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार की पुरस्कार राशि को संयुक्त विजेताओं में बराबर-बराबर बाँट दिया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यातव्य है कि प्रतिभागियों को निर्णायक मण्डल द्वारा जो अंक दिये गये हैं वे उनकी निबन्ध की विषय प्रस्तुति, भाव, भाषा एवं विषय वस्तु को आधार बनाकर दिये गये हैं तथा परिणाम में पूरी पारदर्शिता बरती गई है।

विजेता सभी प्रतिभागियों को पार्श्वनाथ विद्यापीठ में दिनांक १५ से १७ दिसम्बर, २००६ को आयोजित "Contribution of Shraman Tradition to Indian Culture & Tourism"("भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन को श्रमण परम्परा का अवदान") विषयक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर एक सादे समारोह में पुरस्कार एवं प्रमाण पत्र देकर सम्मानित किया जायेगा तथा उनके निबन्धों को **श्रमण** (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की शोध त्रैमासिक पत्रिका) में साभार प्रकाशित किया जायेगा। प्रतिभागियों को विद्यापीठ आने हेतु समय एवं तिथि की सूचना बाद मे प्रेषित की जायेगी। बुलाये गये प्रतिभागियों को एक तरफ का मार्ग व्यय (द्वितीय शयनयान श्रेणी - रेलवे) विद्यापीठ द्वारा देय होगा।

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय
संयोजक
निबन्ध प्रतियोगिता

❋

अन्तःकरण की वृत्तियां अनुशासित करना ही शील है

एक बार भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए अनेक भिक्षु अपने गुरु के साथ आए। वे आते ही बड़ा शोर-गुल कर रहे थे। भगवान बुद्ध ने उनके गुरु को खबर भेजी कि उन्हें शील का अभ्यास ठीक से कराएँ, फिर उन्हें लाएँ। उनके गुरु ने वर्ष भर उन्हें शील का अभ्यास कराया। जब ये भिक्षु भगवान बुद्ध के पास आए, तब भगवान चुपचाप शांत भाव से बैठ गए। वे रात्रि भर बैठे। आनंद बुद्ध को बार-बार उन भिक्षुओं के बैठे रहने की खबर देता, परंतु भगवान कुछ न बोलते। सवेरा होने पर देखा गया कि सभी भिक्षु भगवान बुद्ध की तरह ही समाधिस्थ हैं।

अंतःकरण की वृत्तियाँ अनुशासित हो जाने पर थोड़े प्रयास से ही सद्गति मिल जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

जैन जगत्

पुरस्कार एवं सम्मान

श्री दुलीचन्द जैन "सेवा रत्न" अवार्ड से सम्मानित

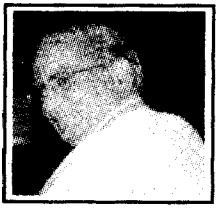

श्री दुलीचन्द जैन, अध्यक्ष - करुणा अन्तर्राष्ट्रीय को सुविख्यात सेंटेनेरियन ट्रस्ट चेन्नई द्वारा दिनांक ०८.१०.०५ को एक भव्य समारोह में रानी सीतई हॉल में सम्मानित किया गया।

श्री जैन को यह अवार्ड उनकी सामाजिक सेवाओं के लिए मिजोरम के पूर्व राज्यपाल महामहिम डॉ० ए० पद्मनाभन द्वारा प्रदत्त किया गया। माननीय न्यायाधीश (सेवानिवृत) श्री एस० जगदीशन, चेयरमैन, इंटेलेक्चुअल प्रोपर्टी एपेलेट बोर्ड ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षत की। चेन्नई नगर के ५०० से अधिक प्रबुद्ध व्यक्ति इस कार्यक्रम में उपस्थित थे।

डॉ० सागरमल जैन को आचार्य देवेन्द्र श्रुत सेवा सम्मान

उदयपुर। श्रमण संघीय तृतीय पट्टधर जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट, श्री देवेन्द्र मुनि जी म० के पुण्य स्मृति में स्थापित आचार्य देवेन्द्र श्रुत सेवा सम्मान जैन धर्म दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० सागरमल जैन को दिया जायेगा।

जैनाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शिक्षण एवं चिकित्सा शोध संस्थान ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री धनसुख भाई दोशी ने बताया कि आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनिजी म० का आगम, प्राकृत संस्कृत व हिन्दी भाषा, प्राच्यविद्या और श्रमण साहित्य के लेखन-सम्पादन और प्रचार प्रसार में युगान्तरकारी योगदान रहा है। उनकी संसारपक्षीय ज्येष्ठ भगिनी महाश्रमणी श्री पुष्पवती जी म० की प्रेरणा से पिछले वर्ष इस पुरस्कार की स्थापना की गई थी। पुरस्कार के अन्तर्गत ग्यारह हजार रुपये नकद, प्रशस्ति-पत्र और शाल व माला प्रदान किये जाते हैं।

कार्यकारी अध्यक्ष वीरेन्द्र डांगी ने बताया कि पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के पूर्व निदेशक (अब मानद् सचिव) व प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर के निदेशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो० सागरमल जी जैन को वर्ष २००६ का यह सम्मान दिया जायेगा। शताधिक पुरस्तकों के लेखक और सम्पादक, शाजापुर में जन्में ७४ वर्षीय प्रो० जैन एक विश्रुत जैन विद्वान हैं। दर्जनों विद्यार्थियों ने उनके निर्देशन में शोध किया है। उनके सैकड़ों शोध आलेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए व हो रहे हैं। देश विदेश में उनके अनेकों व्याख्यान हो चुके हैं। प्रो० जैन का 'जैन, बौद्ध व गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' विषयक विस्तृत शोध-प्रबन्ध विद्वत् जगत् में अत्यधिक चर्चित हुआ। मंत्री गणेशलाल गोखपू ने बताया कि यह सम्मान प्रो० जैन को उदयपुर में आयोजित समारोह में प्रदान किया जायेगा। ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व भी प्रो० जैन डीप्टीमल पुरस्कार, दर्शन जगत् के विशिष्ट स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार आदि अनेकों पुरस्कारों से सम्मानित किए जा चुके हैं।

डॉ० जैन सेन्टर आफ जैन स्टडीज, लन्दन के सदस्य मनोनित

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली के निदेशक एवं प्राकृत और जैनदर्शन के ख्याति- प्राप्त विद्वान प्रो० ऋषभचन्द्र जैन लन्दन युनिवर्सिटी में स्कूल आफ ओरियन्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज के अन्तर्गत सेन्टर आफ जैन स्टडीज के एशोसिएट मेम्बर मनोनीत किये गये हैं। यह संस्थान परिवार एवं बिहार सरकार के उच्च शिक्षा विभाग के लिए गौरवपूर्ण है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की डॉ० जैन को बधाई।

भगवान महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई द्वारा आयोजित "डॉ० नेमीचन्द जैन स्मृति पुरस्कार" हेतु शाकाहार विषयक श्रेष्ठ पुस्तकें चयनित

भगवान महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई द्वारा आयोजित "डॉ० नेमीचन्द जैन स्मृति पुरस्कार" के अन्तर्गत शाकाहार विषयक हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में आलेखित श्रेष्ठ एक-एक कृति को ५१०००-५१००० (इक्यावन-इक्यावन हजार) रुपये की राशि से पुरस्कृत करने हेतु चयनित किया गया है। फाउण्डेशन हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में शाकाहार विषयक श्रेष्ठ लेखन के लिये लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिये उपरोक्त विशेष पुरस्कार प्रदान कर रहा है।

ज्ञातव्य है कि भगवान महावीर फाउण्डेशन की स्थापना सन् १९९४ में चेन्नई के प्रसिद्ध समाजसेवी एवं उद्योगपति श्री एन० सुगालचन्दजी जैन (सिंघवी) द्वारा की गई। फाउण्डेशन का मुख्य उद्देश्य शाकाहार, शिक्षा, चिकित्सा एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असाधारण मानव सेवा हेतु उल्लेखनीय योगदान प्रदान करने वाले महानुभावों को 'महावीर अवार्ड' से पुरस्कृत करना है। फाउण्डेशन प्रतिवर्ष ५-५ लाख रुपये के तीन पुरस्कार उपरोक्त क्षेत्रों में कार्यरत उल्लेखनीय महानुभावों तथा संस्थानों को प्रदान करता रहा है। अब तक ५-५ लाख रुपये के ३३ पुरस्कारों से उत्कृष्ट कार्य करने वाली संस्थाओं, शिक्षाविदों-प्रसिद्ध चिकित्सकों तथा समाज एवं जनसेवियों को 'महावीर अवार्ड' से सम्मानित किया जा चुका है।

''डॉ० नेमीचन्द जैन स्मृति पुरस्कार'' के विजेता

	लेखक	भाषा	कृति
१.	डॉ० कुसुम लूनिया बी-१००, सूर्या नगर, पोस्ट : चंदनगर, जिला : गाजियाबाद (उ०प्र०)	हिन्दी	शकाहार – श्रेष्ठ आहार
२.	डॉ० कल्याणमल गंगवाल ५८६, सदाशिव पेठ, लक्ष्मी रोड, पूणे–४११०३०	अंग्रेजी	शाकाहार – स्वस्थ जीवन की राह

उपरोक्त विजेताओं का चयन १५ प्रतियोगियों एवं उन द्वारा आलेखित कृतियों (३ अंग्रेजी एवं १२ हिन्दी) में से निर्णायक मंडल – डॉ० श्री जयन्तिलाल जैन, डॉ० भद्रेश जैन तथा श्री दुलीचन्द जैन (संयोजक) ने किया।

श्री चंचलमलजी चौरड़िया को मारवाड़ रत्न सम्मान

महावीर इन्टरनेशनल जोधपुर के पूर्वाध्यक्ष एवं प्राणी मित्र संस्थान के कार्याध्यक्ष वीर चंचलमल चोरडिया को पाली मित्र मण्डल, मुम्बई द्वारा एक भव्य समारोह में 'मारवाड़ रत्न' से सम्मानित किया गया। सम्मान स्वरूप उन्हें ३१०००/- रु० की राशि एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। इस सम्मान हेतु पाली मित्र मण्डल, मुम्बई द्वारा सम्पूर्ण मारवाड़ में विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय सेवाओं के लिये प्रतिवर्ष एक समाज सेवी का चयन किया जाता है। चौरड़ियाजी को यह सम्मान उनके द्वारा अहिंसात्मक स्वावलम्बी चिकित्सा पद्धतियों के क्षेत्र में प्रशिक्षण, उपचार, प्रचार-प्रसार एवं जन-जागरण के लिये राष्ट्रीय स्तर पर किये गये उल्लेखनीय सेवाओं हेतु प्रदान किया गया। इस अवसर पर चौरड़ियाजी द्वारा ३५० परिवारों को अपने ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तकें १. मौलिक चिकित्सा कौनसी? २. भोजन और स्वास्थ्य, ३. आत्म वैभव आदि भेंट की गयीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसवां महावीर अवार्ड समारोह सम्पन्न

बेंगलोर, ११ जनवरी २००६, 'भगवान महावीर स्वामी ने संसार को अहिंसा, सत्य व अपरिग्रह का पाठ पढ़ाया और उसी का अनुसरण करते हुए भगवान महावीर फाउंडेशन समाज के लोगों को उनके उल्लेखनीय कार्यों के लिए सम्मानित कर रहा है। सुगालचंद जैन निर्विवाद रूप से लगातार जनता की सेवा में रत हैं जो कि उनका एक सराहनीय प्रयास है।' ये उद्गार राज्य के राज्यपाल महामहिमश्री टी०एन० चतुर्वेदी ने प्रकट किए। वे भगवान महावीर फाउण्डेशन चेन्नई की ओर से बेंगलोर के भारतीय विद्या भवन में आयोजित दसवें महावीर अवार्ड समारोह में मुख्य अतिथि के पद से बोल रहे थे। उन्होंने कहा कि इस प्रकार के कार्यों से युवा पीढ़ी व अन्य लोगों को प्रेरणा मिलती है।

पूर्व राज्यसभा सांसद, पद्म भूषण डॉ० एल०एम० सिंघवी ने अपने उद्बोधन में कहा कि सांस्कृतिक वैभव से सम्पन्न इस प्रदेश ने शोध की पारदर्शी प्रक्रिया से एक विशेष पहचान बनायी है और मान अर्जित किया है। उन्होंने कहा कि सम्मान देना बड़ी बात नहीं है। लेकिन शुद्ध-प्रबुद्ध प्रयोजन, विनम्रता, सहृदयता से दिया जाने वाला पुरस्कार श्रेष्ठ है।

इस समारोह में शिक्षा एवं चिकित्सा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए पुणे के डॉ० शरद कुमार दीक्षित, उसी क्षेत्र से चेन्नई स्थित शंकर नेत्रालय के अध्यक्ष व चेयरमैन डॉ० एस०एस० बद्रीनाथ और समुदाय व समाजसेवा के क्षेत्र में पाली (राजस्थान) के राजमल एस० जैन को सम्मानित किया गया। पुरस्कार स्वरूप प्रत्येक को ५ लाख रुपये नगद राशि, स्मृति चिन्ह व प्रमाण-पत्र दिए गए।

इस अवसर पर पूर्व केन्द्रीय मंत्री, सांसद व फाउंडेशन के चेयरमैन रामनिवास मिर्धा, पूर्व मुख्य न्यायाधीश व अवार्ड चयन समिति के चेयरमैन एम०एन० वेंकटचलैया, समासेवी दीपचंद गार्डी, आचार्य श्रीचंदनाजी म०सा०, सिक्यूरिटी एंड एक्सचेंज बोर्ड ऑफ इण्डिया के पूर्व चेयरमैन डी०आर० मेहता, भारतीय विद्या भवन, मंगलौर केन्द्र के चेयरमैन प्रो० बी०एम० हेगड़े, जी०एन० दम्मानी सहित समाज के अनेक जाने-माने दिग्गजों की श्रेष्ठ उपस्थिति रही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैक्षिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ

श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में गोम्मटेश प्राकृत विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव

श्री श्रवणबेलगोला में परम पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द मुनिराज के पावन मार्गदर्शन में आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी के पावन सान्निध्य एवं पूज्य स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी के कुशल नेतृत्व में २८ दिसम्बर २००५ से १ जनवरी २००६ तक अ०भा० जैन विद्वत् सम्मेलन का आयोजन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ, जिसमें देश के लगभग १५० जैनविद्या के विद्वान् सम्मिलित हुए। प्रो० राजाराम जैन, दिल्ली की अध्यक्षता, प्रो० प्रेम सुमन जैन, उदयपुर के निर्देशन एवं प्रो० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' वाराणसी के संयोजन में सम्पन्न इस अ०भा० जैन विद्वत् सम्मेलन में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित हुआ कि प्राकृत साहित्य, जैन कला और ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के केन्द्र श्रवणबेलगोला में शीघ्र ही गोम्मटेश प्राकृत विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय। देश का यह प्रथम प्राकृत विश्वविद्यालय होगा। इसमें श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं, जैन कला, शिल्प और पुरातत्त्व, गणित, आयुर्वेद, विज्ञान और समाजशास्त्र आदि विषयों का आधुनिक शोध-अनुसंधान के परिप्रेक्ष्य में शिक्षण-अनुसंधान होगा।

इस गोम्मटेश प्राकृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए महामस्तकाभिषेक समिति २००६ पाँच करोड़ रुपयों की स्थापना राशि प्रदान करेगी एवं जैन मठ श्रवणबेलगोला अन्य आर्थिक साधन-सुविधाएँ जुटायेगा। राज्य एवं केन्द्र सरकार से मान्यता एवं सहयोग भी प्राप्त किया जायेगा। इसके लिए पूज्य स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय से सक्रियरूप से प्राकृत से जुड़े हुए इन सात विद्वानों की एक प्रस्ताव समिति (प्रपोजल कमेटी) बनाई गयी है – १. प्रो० कमलचन्द सोगानी (जयपुर), २. प्रो० राजाराम जैन (दिल्ली), ३. प्रो० भागचन्द जैन 'भास्कर' (नागपुर), ४. प्रो० प्रेम सुमन जैन (उदयपुर), ५. प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी (बनारस), ६. प्रो० शुभचन्द्र जैन (मैसूर) एवं ७. प्रो० नलिन शास्त्री (दिल्ली)। यह समिति तीन माह के भीतर विश्वविद्यालय का प्रस्ताव तैयार कर प्रस्तुत करेगी। तदुपरान्त एक राष्ट्रीय क्रियान्वयन समिति (वर्किंग कमेटी) गठित की जायेगी, जो यू०जी०सी० के नियमों के अनुरूप इस विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए साधन-सुविधाएँ जुटायेगी। इस गोम्मटेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत विश्वविद्यालय की स्थापना की घोषणा के समय शताधिक विद्वानों के साथ महामस्तकाभिषेक समिति के अधिकारी श्रीमान निर्मल कुमार सेठी, (दिल्ली), श्रीमान नरेश कुमार सेठी (जयपुर) एवं श्रीमान ए०आर० निर्मल कुमार (बैंगलोर) का समर्थन भी प्राप्त हुआ।

पार्श्वचन्द्रगच्छीय साध्वीरत्न सिद्धान्तरसाश्रीजी म०सा० के १८वें दीक्षा दिवस पर घोलवड़ में नि:शुल्क दन्त चिकित्सा शिविर आयोजित

५ फरवरी, ०६ को घोलवड़ में श्री पार्श्वचन्द्रगच्छीय प्रवर्तिनी आर्या ॐकारश्रीजी म०सा० एवं ज्ञानभारती प०पू० भव्यानन्दश्रीजी म०सा० की शिष्या साध्वी सिद्धान्तरसाश्रीजी के १८वें दीक्षान्त दिवस एवं उनकी मातुश्री स्व० श्रीमती प्रमिलाबेन पुनमियां की चतुर्थ मासिक पुण्यतिथि के शुभअवसर पर आपके पिताश्री श्री चम्पकलालजी पुनमियां ने एक नि:शुल्क दन्त शिविर का आयोजन किया। इस भव्य समारोह में डॉ० के०पी० जैन, मुम्बई तथा डॉ० चंदुलाल जे० परमार ने दन्त रोगियों की नि:शुल्क चिकित्सा की। इस अवसर पर 'ॐकार सिद्धि' नामक पुस्तक का विमोचन भी किया गया। समारोह में पार्श्वचन्द्रगच्छ की दस विदुषी साध्वियों की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। दन्त चिकित्सा शिविर एवं स्वामीवात्सल्य का लाभ श्री चंपकलालजी पुनमियां परिवार ने लिया।

डॉ० सुधा जैन द्वारा विश्वविद्यालयों में प्रेक्षाध्यान प्रशिक्षण

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के मालवीय भवन में योग साधना केन्द्र के तत्त्वावधान में वांक्वांग डिजिटल यूनिवर्सिटी, साऊथ कोरिया के ३२ छात्र-छात्राओं एवं आध्यापकों का दिनांक ०६.०२.२००६ से २४.०२.२००६ तक योग शिविर आयोजित किया गया जिसमें डॉ० सुधा जैन, प्रवक्ता पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी ने दिनांक ०६.०२.०६ से ०८.०२.०६ तक जैन साधना पद्धति एवं विशेषकर प्रेक्षाध्यान का प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक प्रशिक्षण दिया। डॉ० जैन ने उन्हें प्रेक्षाध्यान का इतिहास, ध्यान की पूर्व तैयारी, कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वास प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, ज्योति केन्द्र प्रेक्षा तथा सम्पूर्ण कायोत्सर्ग के प्रयोग करवाये। भीमराव अम्बेडकर, बिहार विश्वविद्यालय, मुज्जफ्फरपुर के दर्शन विभाग में भारतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिक अनुसंधान परिषद द्वारा एक योग कार्यशाला– ''दी डायनिमिक योगा – ए सिन्थेटिक एप्रोच'' दिनांक २२.०३.०६ से ३१.०३.०६ तक आयोजित की गयी। इसमें डॉ० सुधा जैन ने दिनांक २७.०३.०६ से ३१.०३.०६ तक जैन साधना पद्धति के प्रेक्षाध्यान पर सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया। प्रशिक्षण के दौरान योग कार्यशाला में भाग लेने वाले छात्र-छात्राओं एवं अन्य जिज्ञासुओं को उन्होंने प्रेक्षाध्यान का इतिहास उसकी साधना पद्धति एवं प्रयोगों की सैद्धान्तिक जानकारी दी तथा कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा, प्राणायाम आदि के प्रयोग करवाये। दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष, प्रोफेसर सचिन्द्र कुमार सिंह के द्वारा आयोजित यह कार्यशाला विभिन्न साधना पद्धतियों के प्रशिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण देने के पश्चात् सफल पूर्वक सम्पन्न हुई।

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान के मासिक अध्ययन संगोष्ठी में 'पर्यावरण संरक्षण एवं जैन दृष्टि' विषय पर शोधपत्र

दिल्ली, भारतीय संस्कृति के शोध एवं अध्ययन हेतु समर्पित भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान के मासिक अध्ययन संगोष्ठी की नवीं कड़ी में ११, फरवरी २००६ को आयोजित संगोष्ठी में वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर तथा उच्च अध्ययन के क्षेत्र में समर्पित अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान प्रो० नलिन शास्त्री ने 'पर्यावरण संरक्षण एवं जैन दृष्टि' विषय पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। प्रो० शास्त्री ने कहा कि सच्चे अर्थों में देखा जाय तो पर्यावरण हम लोगों से शुरू व समाप्त होता है। इसे संरक्षित करना या बिगाड़ना हमारे ही हाथों में है। पर्यावरण पर जो संकट के बादल मंडरा रहे हैं उस पर अपना विचार प्रकट करते हुये उन्होंने कहा कि इसका उपाय है – जैन दृष्टि से स्वस्थ्य चिन्तन कर, आपसी भेदभाव छोड़ना, हिंसा से विरक्त होकर स्वयं को साधना से जोड़ना।

इस अवसर पर विशेष रूप से उपस्थित श्रमण संघीय जैन मुनिद्वय श्री सुमति मुनि एवं पूज्य श्री विचक्षण मुनि ने शोध-विषय की सराहना करते हुये समाज व धर्म के प्रति आकृष्ट होने के लिए प्रोत्साहित किया।

कार्यक्रम समन्वयक व कार्यकारी निदेशक डॉ० बालाजी गणोरकर ने कहा कि जैन धर्म ही विश्व का एकमात्र धर्म है जिसमें अहिंसा की विभावना के अन्तर्गत एकेन्द्रिय से पंचेंद्रिय जीवों के अस्तित्व का सतत, मनन, चिन्तन व संरक्षण होता है तथा जैन चतुर्विध संघ अपने आचार विचार में गहराई से सह-अस्तित्व की मान्यता स्वीकार करते हुए ''मित्ति में सव्व भूएसु'' हेतु सदैव जागृत रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संगोष्ठी का शुभारम्भ संस्थान के डॉ० मोहन पाण्डेय के नमोकार-मंत्र तथा पौराणिक मंगलाचार से हुआ। संगोष्ठी में डॉ० जे०पी० विद्यालंकार, पूर्व प्राचार्य हंसराज कॉलेज, दिल्ली, डॉ० मिथिलेश चतुर्वेदी, रीडर, शिवाजी कॉलेज, डॉ० अशोक कुमार सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, बी०एल० आई०आई०, डॉ० अतुल कुमार (दैनिक हिन्दुस्तान) आदि विद्वान उपस्थित थे।

Seminar on Pañcagranthi Vyākaraṇa of Buddhisāgara Sūri

The Pañcagranthi Vyākaraṇa of Buddhisāgara Sūri was released by the noted scholar Dr. (Mrs.) Kapila Vatsyayan, Member, Rajya Sabha, in a function held at India International Centre, New Delhi on March 4, 2006. The author of this work, which is the only available work of Sanskrit grammar written in metrical verses, was a Śvetāmbara Jaina Ācārya who flourished during 981-1025 A.D. It has been published by Bhogilal Leherchand Institute of Indology (BLII), Delhi. A special feature of the event was the felicitation of Shri Pratap Bhogilal, the founder chairman of BLII.

Speaking as the Chief Guest of the function, Dr. (Mrs.) Kapila Vatsyayan discussed how the vast commentarial literature of India has an originality of its own in interpreting and reinterpreting the text. She stressed upon the need of providing bridge between the ancient and the modern. Dr. J.B. Shah, Director, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad praised the effort and zeal of Pratapbhai in furthering the cause of Indological studies, especially Jaina studies.

In the second session, a seminar was held on the *Pañcagranthi Vyākaraṇa*. Dr. J.B. Shah talked in detail about the Jain tradition of Vyākarṇa. He expressed the view that the work of Buddhisāgara was the basis for the composition of *Siddha Haima Śabdānuśāsana* which is still being taught at many areas in Gujrat and Rajasthan. The editor of the *Pañcagranthi*, Prof. N.M. Kansara presented a summary of the work. Prof. Vasudev Ghushe in his keynote address highlighted the salient features of the editor's effort. Prof. Jaidev Jani compared the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

work with Pāṇini's grammar and showed how Buddhisāgara has presented many rules of Pāṇini with greater brevity. Dr. Lalit Kr. Tripathi, Dr. Chandra Bhushan Jha and Dr. Ashok Kr. Singh also presented their papers in the seminar. Dr. Jha felt the need for composing a new grammar which would incorporate the best features of different grammatical traditions.

Dr. Mithilesh Chaturvedi in his concluding remarks summed up the conclusions of the seminar. Shri Deven Yashwant proposed a vote of thanks at the end of the second session. The two sessions were compared by Comm. S.K. Jain and Dr. Balaji Ganorkar.

पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट कार्यक्रम

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा 'पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम चलाया जा रहा है। आठवाँ सत्र १ जुलाई २००६ से प्रारम्भ होगा। इसमें प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य भाषाओं/विषयों के प्राध्यापक, अपभ्रंश एवं प्राकृत विद्या के शोधार्थी तथा संस्थानों में कार्यरत विद्वान सम्मिलित हो सकेंगे। नियमावली एवं आवेदन पत्र दिनांक २५ मार्च से १५ अप्रैल २००६ तक अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड़, जयपुर-३०२००४ से प्राप्त करें। कार्यालय में आवेदन पत्र पहुँचने की *अन्तिम तारीख १५ मई २००६ है।*

❋

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण, वर्ष ५७, अंक १
जनवरी-मार्च २००६

साहित्य सत्कार

पुस्तक समीक्षा

१. जैन वस्तुस्वातंत्र्यवाद - लेखक - डॉ० अल्पना जैन, प्रकाशक - विश्वविद्यालय प्रकाशन, गौर कॉम्प्लेक्स, परकोटा रोड, सागर-४७०००२ (म०प्र०) पृष्ठ - २२९, प्रथम संस्करण - २००५ मूल्य - ३०० साइज - डिमाई।

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० अल्पना जैन द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ में वस्तुस्वातंत्र्यवाद से सम्बन्धित विषयों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। वास्तव में वस्तुस्वातंत्र्य जैन दर्शन का एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें जैन दर्शन के सभी सिद्धान्त बीजवत निहित हैं जो हमें जीवन को समझने के लिये नवीन दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। यह ग्रन्थ आठ अध्याय में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में वस्तुस्वातंत्र्य को अनेक आयामों से उद्घाटित किया गया है जिससे उसका नवीन रूप पाठक वर्ग के सामने उपस्थित होता है। ऐसा नहीं है कि इस विषय पर अभी तक जो भी कार्य हुए हैं वह महत्त्व नहीं रखते हैं फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखिका ने जैन दर्शन के वस्तुस्वातंत्र्य के अन्तर्गत आने वाले सिद्धान्तों को रेखांकित करते हुए न केवल उन्हें नवीन रूप प्रदान किया अपितु उन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में अपने बात को रखने के लिये गहन अध्ययन भी किया है।

अध्यायों के अन्तर्गत प्रत्येक पक्षों की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या की गयी है और निश्चय नय तथा व्यवहार नय का प्रयोग भी यथास्थान विषय को सम्पूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से किया गया है। इस कार्य के लिये लेखिका बधाई की पात्र है। ग्रन्थ की वाह्याकृति आकर्षक व छपाई सुन्दर है।

डॉ० शारदा सिंह

२. भक्ति पाठावली - आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित भक्तियों का महाकवि आचार्य विद्यासागर कृत हिन्दी पद्यानुवाद, प्रकाशक - विद्योदय प्रकाशन, ललितपुर (उ०प्र०), प्रथम संस्करण - २००३, २००० प्रतियां, द्वितीय संस्करण - २००४, ४४०० प्रतियां। साइज - डिमाई, पृष्ठ - ९६।

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद स्वामी विरचित भक्तियों में से नौ भक्तियों का आचार्य विद्यासागर कृत पद्यानुवाद है जो भक्ति पाठावली नामक इस पुस्तक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशित किया गया है। जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिरत्न के अतिरिक्त भक्ति को भी मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है। इसी कारण भक्ति से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना भी की गयी है किन्तु ज्यादातर ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद न होने के कारण उनका सही लाभ नहीं उठाया जा सका है।

स्पष्ट है कि संसार-सागर से तरने के लिये भक्ति की अलग ही महत्ता है। श्रमण की दिनचर्या भक्ति से ही प्रारम्भ होकर भक्ति पर ही खत्म होती है अत: भक्ति पाठों का श्रवण-मनन उनकी दिनचर्या का मुख्य भाग है। जो श्रावक या उपासक भक्ति पाठों का सही अर्थ नहीं समझ कर केवल उन्हें याद भर कर लेते हैं उनके लिये यह पुस्तक निश्चित ही उपयोगी सिद्ध होगी। कवि विद्यासागर ने अनेक पद्यानुवाद के साथ-साथ भक्ति ग्रन्थों का भी अनुवाद किया है। इनकी भाषा के कई शब्द व शब्दार्थ इनके अपने जीवन से स्वत: ही प्रस्तुत हुए हैं अत: शब्दार्थ में नवीनता दिखायी देती है जो पाठकों को सहज ही मोह लेगी। इस सराहनीय कार्य के लिये आचार्य श्री विद्यासागर जी के चरणों में सादर नमन। प्रस्तुत पुस्तक की साजसज्जा आकर्षक व मुद्रण सुस्पष्ट है।

डॉ० शारदा सिंह

३. समयसार (समय प्राभृत) - रचयिता - आचार्य श्री कुन्दकुन्द, हिन्दी टीकाकार - पं० मोतीलाल कोठारी, प्रकाशक - अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध संस्थान, बीना (सागर) मध्य प्रदेश, पृष्ठ - ७१३।

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द विरचित अध्यात्मरस से परिपूर्ण अनुपम ग्रन्थ है। समयसार ग्रन्थ पर कई आचार्यों की अलग-अलग टीकाएं ही उपलब्ध थीं किन्तु इस ग्रन्थ में समयसार की मूल गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका, आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका एक साथ उपलब्ध है। आत्मख्याति टीका, पर एक उपटीका पं० मोतीचन्द कोठारी द्वारा लिखी गयी तत्त्वप्रबोधनी टीका भी है। इसमें पं० जी ने आत्मख्याति टीका की मर्मस्पर्शी व गहन विवेचना की है।

इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के प्रतिपाद्य मुख्य सिद्धान्तों यथा - जीव, अजीव, निश्चयनय, व्यवहारनय, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, ज्ञान, आत्मा, कर्म आदि विषयों की व्याख्या अत्यन्त सरल ढंग से गद्य शैली में की गयी है जिससे क्लिष्ट भाषा भी सरलतम जान पड़ती है। कहीं-कहीं भाषा में काव्यात्मक भाव देने के लिये पद्य शैली का प्रयोग भी किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मख्याति टीका - समयसार पर आचार्य अमृतचन्द की टीका आत्मख्याति नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका में उन्होंने जैन दर्शन के अनेक गूढ़ विषयों को अपनी सरल गद्य शैली में व्यक्त किया है। ऐसा नहीं है कि इन विषयों को अभी तक अनदेखा किया गया हो किन्तु आचार्य अमृतचन्द ने न केवल विषयों को अत्यन्त सरल ढंग से विवेचित किया अपितु जहां कहीं भी उन्होंने संस्कृत भाषा का प्रयोग किया, उसका स्तर देखते बनता है। इस टीका में विवेचित पद्यों की संख्या २७८ है एवं इस ग्रन्थ में ४१५ गाथाओं पर ही टीका लिखी गयी है। जबकि गाथाओं की कुल संख्या ७११ है। संभवत: तब इतनी ही गाथाएं उपलब्ध रही होंगी।

आचार्य जयसेन द्वारा लिखी गयी समयसार (प्राभृत) पर दूसरी टीका तात्पर्य वृत्ति है। यह टीका भी अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि समयसार पर इसके पहले जो भी टीका लिखी गयी उसकी भाषा दुर्बोध व कठिन होने के कारण सरलता से ज्ञान सुलभ नहीं थी। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य जयसेन ने इसमें न केवल जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की विवेचना की अपितु उन्होंने इस टीका में गाथा से सम्बन्धित पदों का शब्दार्थ स्पष्ट किया तत्पश्चात् मुख्य विषय की विशेष चर्चा की। आचार्य जयसेन ने भी केवल अपने समय में उपलब्ध ४३९ गाथाओं पर ही टीका लिखीं शेष गाथाओं का लोप है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता स्वयं पं० जी द्वारा आत्मख्याति टीका पर लिखी गयी उपटीका तत्त्वप्रबोधिनी है जो संस्कृत भाषा में है। इसमें आत्मख्याति के पदों की विवेचना की गयी है। पं० जी ने अपनी टीका में कुछ दुर्बोध ग्रन्थियों द्वयअर्थी आदि विषयों का विवरण प्रमेयकमलमार्तण्ड, गोम्मट्टसार आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चित ही पाठकों के लिये उपादेय सिद्ध होगी।

डॉ० शारदा सिंह

साभार प्राप्ति

१. **भैया भगवती दास और उनका साहित्य**, डॉ० उषा जैन, प्रकाशक - अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद - २००६, प्रथम आवृत्ति मूल्य - २५०/-

२. श्रीवर्द्धमानसूरि कृत - **आचार दिनकर**, प्रथम खण्ड - **जैन गृहस्थ की षोडश संस्कारविधि**, अनुवादक - साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी, सम्पा०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ० सागरमल जैन, प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०), प्रथम आवृत्ति - २००५, मूल्य - रु० ४०/-

३. श्री वर्द्धमानसूरि कृत - **आचार दिनकर**, द्वितीय खण्ड - **जैन मुनिजीवन के विधि-विधान**, अनुवादक - साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी, सम्पा० डॉ० सागरमल जैन, प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०), प्रथम आवृत्ति - २००५, मूल्य - रु० ५०/-

४. **श्री लोकप्रकाश**, श्री विनय विजय गणि, सम्पा० पंन्यास जयदर्शन विजय गणि, प्रकाशक - श्री जिनाज्ञा प्रकाशन, वापी, वि०सं० २०६२, मूल्य - रु० ३४४/-

५. **आपणां सहुनी आत्मकथा**, संयोजक - श्रीमद् विजयपूर्ण सूरीश्वर जी म०, प्रकाशक - तरुण भाई मफतलाल शाह, मुम्बई, प्रथम आवृत्ति, सं० २०६१, मूल्य - वाचन - मनन।

६. **दीक्षाविधि, संघयालविधि, उपधानविधि,** सम्पा० गणिवर्य श्री नयचन्द सागर, प्रकाशक - श्री पूर्णानन्द प्रकाशन, अहमदाबाद, सं० २०६१, मूल्य क्रमशः २०/-, २५/- एवं ४५/-

७. **श्रुतमहापूजा,** संपा० कीर्तियश सूरीश्वर जी म०सा०, प्रकाशक - श्रुतमहापूजा समिति, आचार्य विजय रामचन्द्रसूरि स्मृति मन्दिर, रामनगर, अहमदाबाद।

८. **भावचैत्यवंदना,** संपा० मुनिराज पुण्यकीर्ति विजयजी, प्रकाशक - सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, संवत् २०६०।

९. **उपदेश सप्तति,** श्री सोमधर्मगणि विरचित, सम्पा० मुनिराज श्री पुण्यकीर्ति जी, सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, संवत् २०६०, मू० ११५/-

१०. **मनना मोह अमोह, शौर्य नो शंखनाद, मनसाथे मैत्री, जवांमर्दी, मन साथे मुलाकात, जीवन नी जड़ी बूटी, ध्रुवतारक, मनन मोती, बोध बिन्दु, अमृतकुंभ, तेजस्वी तारला, भगवान श्री पार्श्वनाथ, जिंदादिली, प्रेरणा ना पुष्पो, कल्याण जोत, कल्याण धारा, कल्याण ध्वनि, कल्याण स्तोत्र, मार्ग चींधती मशाल, मानवता नो महेरामण, आर्यत्वना अजवाण, बुद्धि नां खेल, जात साथे बात, साधना संदेश, सर्वंक्षणिकम्-** लेखक- आचार्यदेव श्रीमद् विजयपूर्णचन्द्र सूरीश्वर जी म०सा०, श्री सूरजबेन रीखबचन्द, कानजी भाई संघवी ग्रन्थमाला सं० १-१२५, प्रकाशक - पंच प्रस्थान पुण्य स्मृति प्रकाशन, गोपीपुरा, सूरत, प्रथम आवृत्ति संवत् २०६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. **श्री नवपद मंजूषा** - संग्राहक - श्री विजय अमितयश सूरि, प्रकाशक, सोहनलालजी, आनन्दकुमार जी तालेडा, बैंगलोर, वि०सं० २०६१, प्रथम आवृत्ति, मूल्य रु० ९०/-

१२. **कवि कल्पद्रुम** - हर्षकुलगणि विरचित, प्रकाशक - आचार्य श्री सुरेन्द्र सूरीश्वरजी, जैन तत्त्वज्ञानशाला, अहमदाबाद - १, द्वितीय आवृत्ति सं० २०६२।

१३. **हेमविभ्रमः**, संशोधक - पं० हरगोविन्द दास बेचरदासजी, प्रकाशक - श्री सुरेन्द्र सूरीश्वरजी, जैन तत्त्वज्ञानशाला, अहमदाबाद - १, द्वितीय आवृत्ति सं० २०६२।

❋

व्यष्टि को समष्टि की गोद में ही चैन

एक बूंद समुद्र के अथाह जल में घुलने लगी तो उसने सुमद्र से कहा "मैं अपनी सत्ता खोना नहीं चाहती! समुद्र ने उसे समझाया" तुम्हारी जैसी असंख्य बूंदों का समन्वय मात्र ही तो मैं हूँ। तुम अपने भाई-बहनों के साथ ही तो घुल रही हो। उसमें तुम्हारी सत्ता कम कहां हो रही है, वह तो और बढ़ जा रही है।

बूंद को संतोष न हुआ, वह अपनी पृथक सत्ता बनाये रखने का ही आग्रह करती रही। समुद्र ने सूर्यकिरणों के सहारे उसे भाप बनाकर बादलों में पहुंचा दिया और बरसकर फिर वह बूंद बन गई। बहती हुई फिर समुद्र के दरवाजे पहुंची तो समुद्र ने हंसते हुए कहा - बच्ची! पृथक सत्ता बनाये रहकर भी तुम अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा कहां कर सकी? अपने उद्‌गम को समझो, तुम समष्टि से उत्पन्न हुई थी और उसी की गोद में ही तुम्हें चैन मिलेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन् १९५० से लगातार प्रकाशित पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

श्रमण

श्रमण पत्रिका को आप अपना सहयोग प्रदान कर भगवान महावीर के संदेश को जन-जन तक पहुँचाने तथा समाज के उत्थान में सहायक बनें। आप अपना अमूल्य सहयोग- हमें लेखन सामग्री एवं धार्मिक समाचार भेजकर, पत्रिका के आजीवन /वार्षिक सदस्य बनकर, अपनी फर्म का विज्ञापन देकर तथा आर्थिक सहयोग प्रदान कर, कर सकते हैं।

'श्रमण' सदस्यता आवेदन पत्र

नाम :.....पिता/पति का नाम :.....

पता :..... फोन नं० :.....

वार्षिक सदस्यता : संस्था - २५०/- आजीवन सदस्यता : संस्था - १५००/-
व्यक्ति - २००/- व्यक्ति - ५००/-
प्रति अंक - २५/-

संपादक 'श्रमण',

मैं श्रमण पत्रिका का आजीवन/वार्षिक सदस्य बनना चाहता हूँ/चाहती हूँ। निर्धारित शुल्क रु०..... नकद/ड्राफ्ट/चेक के रूप में **पार्श्वनाथ विद्यापीठ** के पक्ष में भेज रहा/रही हूँ।

हस्ताक्षर

विज्ञापन हेतु - विज्ञापन दरें (Advertisement Tariff)

	१ अंक	३ अंक	वार्षिक
1. Front Page (Inner Side) (4 Colour)	4000	8000	10000
2. Back Page (4 Colour)	5000	10000	12500
3. Back Page (Inner Side) (4 Colour)	4000	8000	10000
4. Inner (Art Paper) (2 Colour)	1000	2000	3000
5. Inner (Art Paper) (1 Colour)	800	1600	2000
6. Inner (Art Paper) (1 Colour)	500	1000	1250

संपादक, श्रमण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी० आई० रोड, करौंदी, वाराणसी २२१००५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.

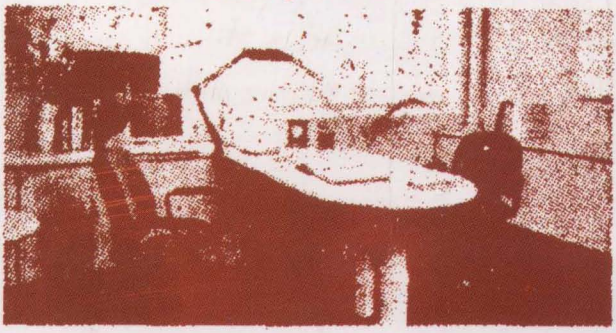

ONLY NUWUD.®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications

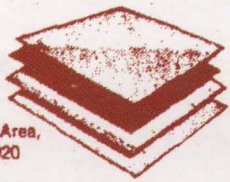

NUCHEM LIMITED

E-46/12, Okhla Industrial Area, Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234, 6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748.

NUWUD MDF

The one wood for all your woodwork

ISI

MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219 • BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549 • CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679 • HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087 • KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org